गिजुभाई-ग्रंथमाला–4

माँ-बाप बनना कठिन है

लखक
गिजुभाई

अनुवाद
काशिनाथ त्रिवेदी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर (चूरू) 331802

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति, -
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
श्री गुलाबचंद महेन्द्रकुमार चण्डालिया
बम्बई

प्रकाशन-वर्ष : 1987
प्रतियां : 1,100
मूल्य : आठ रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियो ने जब यहाँ पर सन् 1954 मे अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापको का ही नही, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 मे उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरु किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनो पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा मे प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनो हमने संस्था मे 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी मे बाल-शिक्षण के अछूते पक्षो पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गांधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव मे तो असम्भव प्रायः हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'माँ-बाप बनना कठिन है' के प्रकाशन का व्यय भार बम्बई के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाले श्री गुलाबचन्द महेन्द्र कुमार चण्डालिया ने सहर्ष वहन किया है। अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने है वे। इस योगदान के लिए मस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए जाने-माने शिक्षाविद् प्रो. दिवाकर शास्त्री का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मै हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप मे प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर

—कुन्दन बैद

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील है, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमनेउन को जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना मे हमारे घरो मे बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओ और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनः-प्राण मे रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नही पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मगलमय प्रभु को परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणो मे सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत् ।

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रथमाला मे गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमे पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारो अपने ढग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरो मे बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने को प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तको की अपनी विशेषता है। ये है :

1. माता-पिता से
2. मा-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथा पच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तको मे बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अगो की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यो हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मै समझ पाया
3. प्राथमिक शाला मे शिक्षा-पद्धतिया
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5 प्राथमिक शाला मे भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. *प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2*
8. दिवास्वप्न
9. यदि आप शिक्षक है
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी है। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई मे जाकर अपनी आत्मा को उडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने मे ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 मे पहली बार हिन्दी मे प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 मे क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप मे प्रकाशित होने वाली है। पचास से भी अधिक वर्षो तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओ ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों मे जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ोसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ सकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन मे जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों मे सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत् विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत,मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य मे अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी मे गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल मे गिजुभाई ने अपनी रचनाओ को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नही। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नो का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रथमाला की सब पुस्तको को उनके लागत मूल्य मे ही पाठको तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने मे हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तको के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओ की खोज मे लगे हैं, जो इनमे से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वय उठा लेने को तैयार हो। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव—पीपल्यारोव,
इन्दौर—452 001

दूसरे संस्करण का निवेदन

(गुजराती)

यह पुस्तक स्वर्गीय श्री गिजुभाई की शिक्षा-विषयक पुस्तकों में से एक है। श्री दक्षिणामूर्ति प्रकाशन मन्दिर के बन्द हो जाने के कारण जो कुछ पुस्तकें अप्राप्य हो चुकी थी, उनमें से एक यह भी है। अब हमने यह निश्चय किया है कि स्वर्गीय श्री गिजुभाई की शिक्षा-सम्बन्धी और शिक्षकों तथा माता-पिताओं के लिए उपयोगी सब पुस्तकों को क्रम-क्रम से फिर प्रकाशित करें।

जिस ज़माने में यह पुस्तक लिखी गई थी, उसमें और आज के ज़माने में बालकों के साथ के बरताव की दृष्टि से, कोई बड़ा परिवर्तन हुआ लगता नहीं है। शिक्षा-विषयक चर्चाएँ बहुत होती रहती होंगी, और शिक्षा-सम्बन्धी नई पुस्तकें भी लिखी जाती होंगी। लेकिन अभी तक ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ देखा नहीं है, जिनमें माता-पिताओं के लिए रोज़-रोज़ के उनके व्यवहार में बालकों के साथ काम करने की बातें सीधी और सरल भाषा में प्रभावकारी ढंग से लिखी गई हों।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी कठिन और दुर्बोध पुस्तकों से आम जनता अपने लिए कोई प्रभावशाली मार्गदर्शन प्राप्त नहीं कर सकती। बालकों के बहुविध व्यवहारों को ध्यान में रखकर उनके साथ काम करने के मामले में माता-पिता के सामने स्पष्ट और युक्ति-युक्त सुझाव रखने वाली पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है। प्रसंग, भाषा और लेखन की दृष्टि से लोकभोग्य और हृदयस्पर्शी शैली में इस सारी चर्चा को प्रस्तुत करने का काम, मेरे नम्र

विचार मे, स्वर्गीय श्री गिजुभाई के अतिरिक्त किसी और ने किया हो, इसकी कोई जानकारी मुझ को नही है।

मैं अपनी इस स्पष्ट भावना के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित करने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा हूँ कि आज अपने देश की सर्वांगीण पुनर्रचना के काम में इस प्रकार की पुस्तकें बहुत ही उपकारक बन सकती है। आशा है, मेरी यह इच्छा पूरी होगी।

मार्च, 1956

—नरेन्द्र बधेका

भूमिका

अमृत-दृष्टि की तलाश

व्यक्ति एवं समाज के विकास के एक कारक के रूप में शिक्षा को सभी स्वीकारते हैं। जो विचारक शिक्षा के लिये संगठित विद्यालय व्यवस्था की *उपयोगिता को नकारने से सहमत नहीं हैं वे भी इस बात को तो मानते है कि* विद्यालय शिक्षा का एकमात्र अभिकर्ता नहीं है। शिक्षा के अनेक अभिकर्ताओं मे से एक महत्वपूर्ण अभिकर्ता परिवार है। व्यक्तित्व के निर्माण के लिये जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल में शिक्षा का दायित्व बहुत कुछ परिवार पर आता है। कहा गया है कि पहली शिक्षक माँ होती है। इसमे यह जोड़ना होगा कि पहले शिक्षक माता-पिता होते है। परिवार के अन्य सदस्य भी अहम भूमिका निबाहते हैं किन्तु अन्य सदस्यों का दायित्व माता-पिता के दायित्व के विचार मे समाहित हो जाता है। माता-पिता ही परिवार के अन्य बालिग सदस्यो के रूप मे भी होते हैं और छोटे सदस्य माता-पिता से जो ग्रहण करते हैं वह ही अपने सम-आयु सदस्यो के साथ संसर्ग मे व्यवहरित करते हैं।

समाज के उपयोगी सदस्य के रूप मे व्यक्ति का विकास करने मे शिक्षा का दायित्व उजागर है। किसी भी व्यवसाय या वृत्ति के लिये आवश्यक शिक्षण व प्रशिक्षण का आयोजन शिक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी माना जाता है। चाहे इंजीनियर का कार्य हो, चाहे डॉक्टर का या फिर वकील का, व्यक्ति को दक्षता प्राप्त करने के लिये लम्बी अवधि की व्यवस्थित शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने होते हैं। इसी प्रकार शिक्षक के लिये भी प्रशिक्षित होना आवश्यक माना गया है। आश्चर्य की बात है कि जिन माता-पिता को शिशु का प्रथम शिक्षक माना जाता है उनके लिये भी अपने दायित्व को ठीक प्रकार

से निबाहने के लिये किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है ऐसा ...
नहीं मालूम होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जन दायित्व अथवा बाल अवस्था में अनुभवों के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले अध्ययन से अछूते है अथवा कि इनका महत्व स्वीकार नहीं किया गया है।

बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यापक अध्ययन हुआ है। बाल मनोविज्ञान एवं बाल विकास के सम्बन्ध में अनेक संधारणाएं, प्रतिपादित हुई हैं और ये विषय अध्ययन एवं अध्यापन के विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं। बाल विकास के सम्बन्ध में माता-पिता की भूमिका के बारे में भी अलग से अध्ययन हुआ है।

किन्तु उपरोक्त अध्ययन एवं विचारणा एक छोटे समुदाय तक ही सीमित रहे हैं और उनकी अवधारणाएं एवं प्रतिपादन केवल विद्वत् समाज अथवा शिक्षा के क्षेत्र में औपचारिक रूप से कार्यरत व्यक्तियों के विचारों एवं कार्यों को ही प्रभावित कर सके हैं।

इसके अलावा अधिकाश अध्ययन पश्चिम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हुए है। यह ठीक है मनोविज्ञान काल एवं देश की सीमाओं से परे सार्वभौम विज्ञान है किन्तु मानव सम्बन्ध अवश्य ही संस्कृति विशेष के मूल्यों एवं परम्पराओं पर आधारित होते है। ऐसी स्थिति में परिवार में माता-पिता का बच्चों के साथ व्यवहार अवश्य ही काल एवं देश निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक बात और है। आजकल इस विचार को प्रमुखता से सामने लाया जा रहा है कि पुरुष प्रधान समाज में समाज के एक बड़े वर्ग, नारी वर्ग, के साथ न्याय नहीं हो पाता है एवं आवश्यकता है कि समाज में इस पुरुष की प्रधानता के तत्व को समाप्त किया जाय। क्या यह भी सच नहीं कि परिवार एव समाज दोनों ही इस प्रकार चलते हैं जैसे केवल वयस्कों का ही अस्तित्व हो और बालकों का कोई अस्तित्व ही न हो। हमारे सभी व्यवहार मानो बालक के अस्तित्व को ही नकारते हो। यह और भी आश्चर्यजनक लगता है

जब हम यह विचार करते हैं कि बालकों के रूप में हम सभी वयस्क उन्ही कटु अनुभवों से गुजर चुके है जिनसे कि बालकों को गुजरना पड़ता है।

आज आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल-विकास के सम्बन्ध में माता-पिता के दायित्व के बारे मे शिक्षित किया जाय। यह शिक्षण बौद्धिक विचारणा के उच्च स्तर पर नही किन्तु स्थूल व्यवहार के स्तर पर बोधगम्य होना चाहिए जिससे कि यह न केवल सहज स्वीकार्य ही हो बल्कि आसानी से ग्रहण भी किया जा सके।

भारत मे विदेशी शासन के अच्छे और बुरे प्रभावो के बारे मे विवाद चलता रहता है किन्तु अवश्य ही लम्बे विदेशी शासन का यह तो प्रभाव हुआ ही है कि हमने एक राष्ट्र के रूप में अपनी अस्मिता खो दी। हमारा अपना सब कुछ हमे क्षुद्र लगने लगा और पश्चिम का सभी कुछ श्रेष्ठ। यदि हमारी अपनी कोई चीज हमे अच्छी लगी भी तो तब ही जबकि वह पश्चिम से अनुमोदित हुई। बाल शिक्षण के बारे मे पश्चिम में बहुत विचार एव कार्य हुआ है और वह सब अवश्य ही महत्वपूर्ण है। उसका अध्ययन एव विवेचन अवश्य ही उपयोगी एव आवश्यक है। लेकिन हमारे अपने देश में भी इस क्षेत्र में बहुत कुछ किया गया है। यह हमारी मानसिक दासता का ही परिणाम है कि जबकि हम पश्चिम के विचारों से भलीभाँति अवगत हैं हमारे अपने देश मे हुए विचार एवं कार्यों से हम पूरी तरह अनभिज्ञ हैं।

गिजुभाई उन विचारकों मे से है जिन्होने बाल-शिक्षण एव बाल-मनो-विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उनका रचित साहित्य गुजराती मे है और उससे बहुत कम लोगों का परिचय है।

प्रस्तुत पुस्तक मे गिजुभाई ने माता-पिता के बच्चों के प्रति दायित्व के बारे में जीवन के उपाख्यानो के आधार पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये है। गिजुभाई का तरीका उपदेशात्मक नही है। वे उपदेश देने के ढग पर यह नही कहते कि माता-पिता को ऐसा करना चाहिए, ऐसा नही करना चाहिए। वे अपने स्वय के अनुभव मे घटित घटनाओं का वर्णन करते है, उनका विश्लेषण करते हैं और अपने विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं कि क्या नही

होना चाहिए था और क्या होना चाहिए था। इस सम्बन्ध मे उन्होने अपनी दृष्टि किसी शास्त्रज्ञ की नही एक प्रेमल माता-पिता की ही रखी है। इस दृष्टि को उन्होंने बहुत ही सुन्दर नाम दिया है 'अमृत दृष्टि'। वे कहते हैं, 'यह अमृत दृष्टि वृद्धि का, खिलने का, विकास का अनिवार्य नियम है। यह नियम जहाँ प्रवर्तित नही होता वहाँ खिलना बद हो जाता है, संकुचन होता है, शुष्कता आती है और सड़ान शुरू हो जाती है।' वे फिर कहते है, 'बालक अपने घरों मे लगाये हुए फूल है। ये हमारे बनाये वातावरण एवं हमारे पोषण में पुष्पित हो रहे है। ये हमारी नजर के नीचे विकसित हो रहे हैं। हमारी दृष्टि जैसी मीठी अथवा कड़वी होगी वैसे ही बालक होंगे। माली अपने उपवन मे असावधानीपूर्वक विचरण करे, फूल देखकर खुश न हो बल्कि यह समझे कि ठीक है फूल उग ही जाते हैं तो उसका उपवन फूलेगा फलेगा नहीं।' वे यह भी कहते है, 'यदि हम उनके प्रति अभिमुख न होते हुए अपने मे ही सीमित रहेंगे तो बालक कुम्हलाऐंगे, उन्हे हमारी अमृत दृष्टि का पोषण नही मिलेगा।'

गिजुभाई की इस कृति का व्यापक प्रचार होना चाहिए। श्री काशिनाथजी त्रिवेदी ने गिजुभाई के साहित्य के अनुवाद एवं प्रसार मे बड़ा योगदान दिया है और अपने इस कार्य के रूप अंग के में इस पुस्तक का अनुवाद किया है। इस कृति को सुलभ बनाने के लिये श्री रामनरेश सोनी ने जिस निष्ठा से कार्य किया है वह श्लाघनीय है। मोण्टेसोरी बाल शिक्षण समिति, राजलदेसर एवं श्री कुन्दन वैद ने इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व अपने पर लिया है—हमें इन सबका आभारी होना चाहिए।

—दिवाकर शास्त्री

वनस्थली विद्यापीठ
राजस्थान, 304 022

प्रस्तावना

माँ-बाप बनना कठिन है।

1-4-1935,
भावनगर

गिजुभाई

मेरे साथ क्यों नहीं ?

बातें करते-करते गजाननजी ने पूछा : 'भैया रमणलाल ! तुम्हारे ये बच्चे तुम्हारे साथ पटापट बातें करते हैं। इनको तुमसे जो भी कुछ पूछना होता है, सो ये बेहिचक पूछते हैं। ये तुम्हारे आस-पास कूदते हैं और नाचते हैं। ये तुमको अपनी यह चीज दिखाते हैं, और वह चीज दिखाते हैं। लेकिन मेरे बच्चे तो ऐसा कुछ भी नहीं करते। वे न मेरे साथ खुलकर बोलते हैं, और न मुझ से कोई सवाल ही पूछते हैं। वे मुझ को कभी यह नहीं बताते कि वे क्या पढ़ रहे हैं, या क्या लिख रहे हैं, क्या खेल रहे हैं, या कहाँ जा रहे हैं ? भला, इसका कारण क्या है ?'

रमणलाल ने कहा : 'भैया, पूरी जान-पहचान और पूरे साथ-संगाथ के बिना तो सही कारण कैसे बताया जा सकता है। लेकिन जो कुछ मैं देखता हूँ और जानता हूँ, उसके आधार पर तुमसे कुछ बातें कहता हूँ। मुझको लगता है कि इसमें बच्चों का कोई कसूर नहीं है। अगर कोई कसूर है, तो वह तुम्हारा है। कह सकते हैं कि यह कसूर भी एक तरह से नासमझी या नादानी के कारण है।

गजाननजी ने पूछा : 'कैसी नासमझी ? जरा खोलकर कहो।'

रमणलाल बोले : 'सुनो, तुमने शुरू से ही अपने बच्चों के साथ घुलने-मिलने की अपनी आदत बनाई नहीं। तुम बड़े अफसर जो ठहरे ! तुम्हारे नौकर-चाकर वगैरा भी तुमसे दूर-ही-दूर बने रहते हैं, तुम्हारे मातहत अफसर भी तो तुम से दूर ही रहते हैं। तुम्हारा स्वभाव भी अफसरशाही का है। गम्भीर मुँह बनाकर बैठे रहने का है। लेकिन बच्चों को ऐसा स्वभाव अच्छा नहीं लगता। वे ऐसे आदमी से दूर रहना ही पसन्द करते हैं।'

गजाननजी ने कहा : 'लेकिन वैसे तो मैं उनके साथ बातचीत करता हूँ। उनसे उनके विद्यालय की और खेल-कूद की बातें भी पूछता हूँ। जब कभी वे आपस मे झगडते है, तो मैं बीच में पडकर उनके झगड़े भी निपटा देता हूँ। ऐसा भी नही है कि मैं हमेशा अकडकर ही बैठा रहता होऊँ। मैं वैसे तो उनका पिता हूँ और वे मेरे बालक है।'

रमणलाल बोले : 'लेकिन भैया, यह तो सच है न कि तुम उनसे पूछते-भर हो। तुम उनके न्यायाधीश-भर बन कर रहते हो? तुम उनके मित्र तो नही न बन पाते हो?

गजाननजी ने पूछा : 'भाई! तुम कहना क्या चाहते हो? मित्र बनने का मतलब क्या है? बाप अपने बच्चो का मित्र कैसे बन सकता है?'

रमणलाल ने कहा : 'भाई गजाननजी, खूबी तो इसी मे है। इसी मे बच्चों के दिलों की चाबी पड़ी है। यह चाबी जब हाथ में आ जाती है, तो सब तरह के ताले खुलने लगते है। फिर तो बालक हमारे आस-पास घूमना शुरू कर देते हैं। वे हम से तरह-तरह के सवाल पूछते हैं। वे हमारे सामने नाचते-कूदते हैं, और हम उनसे जो भी काम करवाना चाहते हैं, उसको वे तुरत-फुरत और हँसते-खेलते कर देते हैं।'

गजाननजी ने पूछा : 'लेकिन अपने बालको का मित्र कैसे बना जाए?'

रमणलाल बोले : 'भैया, जरा मेरी बात सुनो। बच्चो के कामो मे दिलचस्पी दिखाकर हम उनके मित्र बन सकते हैं। उनसे यह पूछ कर कि वे अपनी कक्षा में किस नम्बर से पास हुए, हम उनके मित्र नहीं बन पाते। लेकिन जब हम उनसे पूछते हैं कि उनको अपना विद्यालय कैसा लगता है? उनके शिक्षक कौन हैं, और वे कैसे हैं? शिक्षको के बारे में उनके अपने विचार क्या हैं? और, वे अपने शिक्षको का मजाक किस तरह उडते हैं? जब हम इस तरह बातें उनसे पूछने लगते हैं, तो वे हमारे नजदीक आने लगते हैं। अपने विद्यालय के बारे मे और वहाँ होने वाले कामों के बारे मे बालक हम से कुछ-न-कुछ कहना तो चाहते ही है। पर जब कोई उनको सुनने वाला नही मिलता, तो वे अनमने होकर पडे रहते हैं। लेकिन जब हम उनको बातें सुनने

में अपनी दिलचस्पी दिखाते हैं, तो वे भी दिल खोलकर हमको अपने मन की बातें कहने लगते हैं।

गजाननजी ने कहा : 'भैया, आप ठीक कह रहे हैं। आगे मैं भी ऐसा ही करके देखूंगा। लेकिन क्या इस एक ही बात मे बालको का मित्र बना जा सकता है ?'

रमणलाल बोले : 'नहीं, यह तो मैंने एक उदाहरण-भर दिया। बालको के जीवन में छोटी-बड़ी कई बातें होती रहती हैं। इन सबके बारे में हम उनसे तरह-तरह की बातें कर सकते हैं। बालकों की भी अपनी कुछ रुचि और अरुचि तो होती ही है। कुछ बातें उनको शोभा देती हैं, कुछ नहीं देतीं। कुछ उनको सुहाती हैं, कुछ नही सुहातीं। कुछ उनको सुन्दर लगती है, कुछ नही लगती। ऐसा बहुत-कुछ होता रहता है। इन सबके बारे मे उनकी अपनी राय भी होती है। उनकी अपनी पसन्द और नापसन्द के कारण भी होते हैं। अगर इन सब बातों को जानने में हम अपनी रुचि दिखाते हैं, उनके छोटे-बड़े सुख-दुःख मे हम उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं, उनके छोटे-बड़े कामो की क़द्र करते रहते हैं, तो बालक भी हमको अपना मित्र मानने लगते हैं। तभी उनका दिल पुलकित होता है, और खुलता भी है।

गजाननजी ने कहा : 'भाई रमणलाल जी, तुम्हारी ये बातें मुझको ठीक लग रही हैं। लगता है कि इस विषय मे तुम्हारा अनुभव काफी गहरा है।

रमणलाल बोले : 'हाँ, गजाननजी, बात तो अनुभव की ही है। अभी-अभी के मेरे अपने कुछ अनुभव मैं तुम को सुनाता हूँ। मेरा लडका आजकल सिक्के और डाक-टिकट इकट्ठा कर रहा है। जैसे ही मुझ को इसका पता चला, मैं उसकी मदद करने लगा। अपने मित्रो को पत्र लिखकर मैंने उनके साथ उसकी जान-पहचान करवा दी। जब-जब भी मेरे पास नए डाक-टिकट आते हैं, मैं उनको उसके लिए सँभाल कर रख लेता हूँ। जब मैंने डाक-टिकट इकट्ठा करने की कई तरकीबें उसको समझाईं और सुझाईं, तो उसको बड़ी खुशी हुई। मेरी यह मदद उसको बहुत अच्छी लगी। उसके लिए नए जूते या

नई टोपी ला देने पर उसको जितनी खुशी होती है, उससे कहीं ज्यादा खुशी उसको तब होती है, जब मैं उसके लिए दो-चार नए डाक-टिकट ला देता हूँ। हम बड़ी दिलचस्पी के साथ इन टिकटों की ओर जिन देशों के ये टिकट होते है, उन देशों की बातें करते हैं, इस तरह की बातचीत से बच्चे का मन खिल उठता है। उस समय मुझको उसके असल स्वभाव का पता चलता है, और तभी वह मुझको अधिक पूज्य भाव से देखता है।'

गजाननजी बोले : 'भैया रमणलालजी ! तुम भी तो गजब करते हो ! मुझको भी यह सब करना सीख लेना होगा। सचमुच मैं तो अफसर का अफसर ही बना रहा। पुतले की तरह अकड़कर बैठना और रौब दिखाना तो मुझको आता है, लेकिन अपने बच्चों का मित्र बनना नही आता। अब तो मुझको भी यह सब सीख लेना होगा।'

रमणलाल ने कहा : 'भाई गजाननजी ! इसमें न आने लायक कोई बात है ही नही, और न इसमें कुछ सीखने लायक ही है। लेकिन जरूरी यह है कि इन बातों की तरफ हमारा ध्यान जाए। हमारे पड़ौस में एक त्रिवेणी बहन रहती हैं। बच्चों की मित्र बनने की कला वे बहुत अच्छी तरह जानती है। वैसे, त्रिवेणी बहन बच्चो के साथ कोई ऐसी-वैसी और हलकी-फुलकी बातें नही करती। पर बालकों की रुचि के विषयों को वे बहुत अच्छी तरह जानती है। वे स्वयं काफी पढ़ी-लिखी हैं, और चार लोगो में उनकी खासी पूछ-परख भी है। लेकिन जब वे बालको के साथ बैठती है, तो वे उनको जरा भी भारी नही पड़ती। उलटे, बच्चो को वे बहुत अच्छी और ऊँची लगती है। अपनी बातें वे बच्चो के बीच कुछ इस तरह शुरू करती हैं। 'सुनिए, आप सबको 'बड़े' अच्छे लगते है या नही ? तो क्या कल हम 'बड़े' बनाएँ ? दाल कौन पीसेंगे ? हरा धनिया कौन तैयार करेंगे ? तलने कौन बैठेंगे ?' कभी कहेगी : 'इस चूनरी मे लगे गोटा-किनारी बहुत कीमती है न ? जब मैं छोटी थी, तो नीले रग की चूनरी पहना करती थी। उन दिनो खादी मिलती नही थी। इसलिए हम सब मिल मे बने कपड़े पहनते थे। तुम्हारी यह चूनरी तो खादी की लगती है। सच है न ?' फिर कभी कहेगी : 'तुम को

अंधेरे में नींद आती है या नहीं ? जब मैं छोटी थी, तो मुझको अंधेरे में डर लगा करता था। मैं नाहक डरा करती थी। एक दिन मेरे पिताजी ने मुझको अंधेरे में सुला दिया, और उस दिन मुझको डर नहीं लगा। बस, तब से मैं डरना भूल ही गई !

गजाननजी बोले : भई, तुम्हारी ये त्रिवेणी बहुत तो बड़े मजे की बातें करती हैं। लगता है कि ये बालकों के स्वभाव को बखूबी जानती हैं।

रमणलाल ने कहा—'भैया गजानन जी ! अगर हम भी इस तरह ध्यान देने लगें, तो धीरे-धीरे हम को भी ऐसी बातें सूझने लगेंगी। चूंकि ऐसे मामलों में हम अन्धे बने रहते हैं, इसलिए सब कुछ गुड़-गोबर हो जाता है।'

गजाननजी बोले : भैया रमणलाल ! आज तो मुझको बहुत सी नई बातें जानने को मिलीं। इस दृष्टि से तो मैं अपने रमेश और अपनी रमा के साथ तरह तरह की बातें कर सकता हूँ। वे क्रिकेट खेलते हैं। सिनेमा देखते हैं। छोटी-छोटी कथा-कहानियाँ भी पढ़ते रहते हैं।

रमणलाल ने कहा : —'गजाननजी, बिलकुल ठीक। अब तुम्हारी निगाह सही मुकाम पर पहुँची है। इनमें ही अपने बालकों के साथ बात करने का बहुत मसाला है। इसमें खूबी यह है कि उनसे उनकी ही रुचि के विषयों की चर्चा करते-करते हम उनको कई नई-नई बातें इस तरह बता और समझा सकते हैं कि उनको पता तक न चले। इस प्रकार उपदेश से या हुक्म के जरिए जो बातें उनके गले नहीं उतर पातीं, इस तरह की बातों के जरिए वे इनमें से बहुत कुछ पा लेते हैं, और पचा भी लेते हैं।'

गजाननजी बोले : 'सच कहते हो, भैया, तुम सच ही कह रहे हो।'

रमणलाल ने कहा : अच्छी बात है, भाई गजाननजी ! आगे जब कभी हम मिलेंगे, तो इसके बारे में और भी सोचेंगे और समझेंगे।'

गजाननजी उठते-उठते बोले : 'भैया रमणलालजी ! तो अब मैं चलूं। नमस्कार !'

बाबूजी से कब मिला जा सकेगा ?

लक्ष्मीशंकर डॉक्टर थे। जोरों की प्रैक्टिस चल पड़ी थी। एक घड़ी की फुरसत नहीं मिलती थी। सवेरे जागते ही कोई-न-कोई उनको बुलाने आ ही जाता था। इसी कारण बालकों के जागने से पहले ही उनको नहा-धोकर और दूध पीकर बाहर जाने के लिए तैयार हो जाना पड़ता था।

एक बार घर से बाहर निकलते, तो दिन मे 12,12-30 बजे मुश्किल मे घर लौट पाते थे। बीमारों के देखते और उनकी बीमारी की जांच करते-करते वे सुबह दस बजे के लगभग जब अपने निजी दवाखाने में पहुँचते, तो वहाँ उनकी राह देखते हुए बैठे बीमार उकता उठते थे।

दस बजे से लेकर बारह बजे तक का समय कब, कैसे बीत जाता था, इसका उनको कोई पता तक न रहता था। ढेर सारा काम सामने खड़ा रहता था।

दिन में बारह, साढे बारह बजे के बाद वे घर लौटते। उनके लिए विशेष रूप से गरम-गरम रसोई की व्यवस्था रहती थी। घर के बच्चो को सुबह 11 बजे बाल-मन्दिर जाना होता था।

लक्ष्मीशंकर दिन में दो-ढाई घण्टे आराम करते। लेकिन चार बजे के बाद तो वे अपने घर में शायद ही कभी मिलते थे। फिर बीमारों को देखने के बुलावे शुरू हो जाते। बाद मे शाम को 5 बजे से लेकर 8 बजे तक वे अपने दवाखाने के काम में डूब जाते।

लक्ष्मीशंकर को क्लब का बड़ा शौक था। वे बीमार को चाहे भूल जाए, पर क्लब को कभी भूलते नही थे। ब्रिज और बिलियर्ड खेले बिना वे कभी रहते नही थे। खेल खेल में रोज रात के 9 तो बज ही जाते थे। लेकिन कभी-

कभी 10 भी बज जाया करते थे। लक्ष्मीशंकर रात में सबके अन्त में और देर रात बीते भोजन किया करते थे। रात की रसोई भी उनके लिए ढक कर रखनी होती थी। छोटे बच्चों को नींद आने लगती, और बड़ों को भूख लग जाती, इसलिए घर में रात की रसोई जल्दी ही बन जाती थी।

रोज लक्ष्मीशंकर की यही दिनचर्या रहा करती थी।

लेकिन लक्ष्मीशंकर रविवार के दिन पूरी छुट्टी मनाते थे। उस दिन शाम को भी वे अपना दवाखाना बन्द रखते थे, और क्लब में भी नहीं जाते थे। उस दिन अक्सर वे अपनी पत्नी और बच्चों को साथ लेकर कहीं घूमने निकल जाते थे, या घर में ही तरह-तरह के खेल खेला करते थे। अथवा अपना सारा समय मौज-मस्ती में बिताया करते थे।

घर में रमेश सबसे छोटा था। लक्ष्मीशंकर उसको बहुत चाहते थे। वे जब रात घर लौटते, तो रमेश उस समय सो रहा होता, और जब सुबह जल्दी घर से निकल जाते, तब भी वह तो सोता ही होता। इसलिए लक्ष्मीशंकर उसको हमेशा अपने हाथों सहलाया करते, उसको चूमते, और उसकी तोतली, मीठी, अटपटी बातें उसकी मां से सुन-सुनकर संतुष्ट हो लेते। दूसरे छोटे-बड़े बच्चों में से तो कोई सुबह जल्दी जाग जाते, और कोई रात देर से सोते। इसलिए उनको लक्ष्मीशंकर के साथ बात करने और हँसने-बोलने के मौके मिल जाते थे। लक्ष्मीशंकर स्वभाव से ही आनंदी और विनोदी थे। घर में पाँव रखते ही वे अपने दवाखाने की ओर प्रैक्टिस को बिलकुल भुला देते थे।

रविवार की शाम थी। घर की छत पर बैठे सब मौज मना रहे थे। नन्हा रमेश भी लक्ष्मीशंकर की गोद में बैठा था। तीन साल का हो चुका था। बहुत चालाक था, और बड़ा बातूनी भी था। रोज लड़-झगड़कर अपनी बड़ी बहन के साथ मोण्टेसरी बाल-मन्दिर जाया करता था, और बाल-मन्दिर के शिक्षकों का भी प्रिय बन गया था।

उस दिन खेलते-खेलते और अपने बाबूजी की दाढ़ी पर हाथ घुमाते-घुमाते रमेश ने लक्ष्मीशंकर से पूछा : 'बाबूजी ! आप कभी-कभी ही घर क्यों

आते हैं ? सोमवार को हमारा बाल-मन्दिर बन्द रहता है। आप उस दिन सवेरे ही आ जाया करें, तो कितना अच्छा हो ! दिन भर बड़ा मजा रहे।'

लक्ष्मीशंकर बोले : 'अरे पगले ! मैं तो रोज यहीं रहता हूँ। रोज ही रहता हूँ।'

रमेश ने कहा : 'नहीं, नहीं, झूठी बात। आप झूठ बोल रहे हैं। आप यहाँ रहते, तो मैं आप को देखता न ?'

लक्ष्मीशंकर बोले : 'रोज सुबह जब तुम सो रहे होते हो, मुझको अपने काम के लिए बाहर जाना पड़ता है।'

रमेश . 'इतनी जल्दी जाना पड़ता है ?'

लक्ष्मीशकर 'हाँ, हाँ। बीमारों को देखने के लिए जल्दी ही जाना होता है।'

रमेश . 'माना, लेकिन जब आप यहाँ रहते हैं, तो वापस घर कब आते हैं ?'

लक्ष्मीशकर . 'दोपहर में भोजन के लिए आता हूँ, किन्तु उस समय तुम सब अपने विद्यालयों में होते हो।'

रमेश ने माँ की तरफ देखकर पूछा : 'माँ, बाबूजी सच कह रहे हैं ?' माँ कुछ बोली नहीं।

रमेश : 'पता नहीं, क्या बात है ! किसी दिन बाल-मन्दिर न जाऊँ, तो पता चल जाए।'

लक्ष्मीशकर : 'लेकिन सोमवार को तो तुम्हारी छुट्टी रहती ही है। उस दिन दोपहर को तो मैं घर पर ही रहता हूँ न ?'

रमेश : 'अब मुझको इसका पता लगाना होगा। पिछले सोमवार को तो हम सुबह से शाम तक मौसी के घर रहे थे, और उससे पहले के सोमवार को हमारा बाल-मन्दिर लगा था।'

बीच में माँ बोली : 'और उससे पहले के दो सोमवार आपको कहीं बाहर जाना पड़ा था। रमेश ठीक कह रहा है। लगभग डेढ़-दो महीनों से सोमवार के दिन दोपहर में आप सब कभी इकट्ठा हुए ही नहीं।'

लक्ष्मीशंकर ने अपनी भौंहे चढ़ाकर सिर हिलाया।

रमेश बोला : 'लेकिन आप तो रात में भी नहीं दिखाई पड़ते। चाचाजी, बड़े भैया, बड़ी बहन, हम सब रात मे एक साथ ही भोजन करते हैं, लेकिन उस समय भी आपना नही रहते।'

माँ ने ताने-भरी आवाज में कहा : 'रमेश, तुम्हारे ये बाबूजी तो रोज रात को क्लब जाते हैं, और तुम्हारे सो जाने के बाद ही घर आते हैं, और कभी-कभी तो बहुत ही देर करके आते हैं।'

माँ को क्लब पसन्द नहीं था। प्रैक्टिस के सिलसिले में सारे दिन घर के बाहर रहने की बात तो समझ में आती थी, लेकिन बाद मे देर रात तक क्लब में रहना उनको अच्छा नही लगता था। मौका देखकर माँ ने तनिक ताना मारा।

लेकिन लक्ष्मीशंकर के लिए तो यह ताना ही काफ़ी था। या यो कहिए कि उनको तो इस ताने की भी जरूरत नही थी। रमेश का पहला प्रश्न सुनकर ही उन्होंने मन-ही-मन सोचना शुरू कर दिया था। उनकी आँखों के सामने सुबह से रात तक की अपनी सारी दिनचर्या खड़ी हो गई। एक बात स्पष्ट रूप से उनके ध्यान मे आ गई। अपने जिन बालकों के लिए वे दिन-भर कमाते रहते हैं, उनसे पूरी तरह मिल भी नही पाते। जब रमेश सो रहा होता है, तब घर से बाहर जाना, और जब रात वह सो जाता है, तब घर वापिस आना। उन्होने अनुभव किया कि सचमुच यह स्थिति बहुत ही शोचनीय और भयंकर है। इसके चलते तो मैं रमेश के उछलते-कूदते बचपन मे आनन्द और रस का सिंचन कैसे कर सकता हूँ ? अपने प्यारे बच्चों के साथ खेलने, कूदने और उनके बीच रहकर आनन्द का अनुभव करने के अवसरों को तो मैं खुद ही खोता रहता हूँ।

रमेश ने फिर अपने बाबूजी की दाढी पर हाथ फेरते हुए कहा : 'बाबूजी ! आप बोलते क्यों नही ? आप कोई अच्छी-सी मजेदार बात सुनाकर हम सबको हँसाइए। पता नही, फिर कितने दिनो के बाद आप दिखाई पड़ेंगे !'

रमेश की इस अन्तिम बात का तीर लक्ष्मीशंकर की छाती में अधिक गहरा पैठ गया। उसने उनके दिल को चीर डाला।

लक्ष्मीशंकर बोले : 'सुनो रमेश! अगर मैं रोज शाम को घर आने लगूं और हम रोज ही हँसें, खेलें, तो तुमको कैसा लगेगा?'

सुनकर रमेश के गाल सुर्ख हो उठे। वह अपने बाबूजी के गले लिपट गया और बोला : 'बाबूजी! तब तो मैं रोज ही आपको एक-एक टिकिया दिया करूंगा।'

सुनकर सब एक साथ ठठा कर हँस पड़े।

भावना से भरा वातावरण इस हँसी से थोड़ा हलका हो गया। लक्ष्मीशंकर ने कहा : 'सुनो रमेश! आज से मैं क्लब नहीं जाऊँगा। दवाखाने से सीधा घर ही आया करूंगा। बाद में हम सब शाम को घूमने निकला करेंगे। बोलो, और क्या चाहते हो? रमेश को बहुत अच्छा लगा। रमेश की माँ का मन ही हलका हो उठा।

उस दिन डॉक्टर लक्ष्मीशंकर ने क्लब में जाना बन्द कर दिया। यही नहीं, बल्कि अपनी प्रैक्टिस को बहुत बढ़ाते रहने की बात को भी अपने मन से निकाल दिया, और घर में रहकर अपने बाल-बच्चों के साथ हँसी-खुशी का जीवन बिताते रहने की नई दिशा पकड़ली।

●

आधा दिन बिगड़ गया !

किसी त्योहार का दिन था। पर आज ठीक याद नहीं आ रहा कि कौनसा त्योंहार था।

त्योंहार के दिन से पहले की रात को मणिलाल के घर में बड़ा उत्साह रहा। बच्चे खुशी से उछलते-कूदते हुए कह रहे थे : 'आहा ! कल बड़ा मजा आएगा !' मणिलाल और रेवा बहन सारी व्यवस्था के बारे में सोच रहे थे।

मणिलाल मेरे पड़ोसी हैं, और एक हिसाब से मेरे मित्र भी हैं।

सवेरा होने पर मणिलाल गाँव में साग-सब्जी खरीदने चले गए। रेवा बहन जागी, और वे बच्चों को झट-पट नहलाने-धुलाने लगी। उस दिन रेवा बहन को ढेरों काम निपटाने थे।

पड़ोसिन ने आकर कहा : 'रेवा बहन ! जरा मेरे घर चलिए। मेरे भानजे का पेट दुख रहा है। आप उसको देख लीजिए।'

सांप—छछूंदर की-सी हालत हो गई। जाती हैं, तो समय खर्च होता है। नहीं जाती हैं, तो पड़ोसिन को बुरा लगता है !

अपने लल्लू को नहला देने के बाद रेवा बहन भानजे को देख आई। लौटते समय बड़बड़ाने लगीं। : 'भला, इसमें मुझको दिखाना ही क्या था ? जरा भी कुछ हुआ कि तुरन्त ही मुझ को बुलाने आ जाते है ! हमारे भी अपने-कुछ काम होते हैं या नहीं ? ये किसी वैद्य को क्यों नहीं बुला लेते ?'

रेवा बहन मन-ही-मन झल्ला उठीं। इधर नहाने के बाद लल्लू अपने हाथों धुले कपड़े निकालकर उनको पहन रहा था। लल्लू ने सारी पेटी के सब कपड़ों को उलट-पलट डाला था।

रेवा बहन अपनी बेटी जमुना पर बरस पड़ी। बोली : 'जमुना! तुम देख नहीं रही हो! लल्लू ने पेटी के सारे कपड़े उलट-पुलट दिए हैं। लल्लू का बदन पोंछ दो, और सारे कपड़े फिर पेटी में जमा कर रख दो!'

लल्लू रोने लगा। जमुना ने अपना मुँह फुला लिया। वह बोली : 'भला, इसमें मैं क्या करूँ? लल्लू की तो यही आदत रही है।'

रेवा बहन ने कहा : 'तो फिर कपड़े जिस तरह बिखरे पड़े हैं, उनको उसी तरह पड़े रहने दो। देखो, आज तुम किसी तरह की कोई गड़बड़ मत करो। अभी तुम्हारे पिताजी आएँगे, तो घर की हालत देखकर पूछेंगे : 'यह क्या गड़बड़ मचा रखी है?'

जमुना अपना सिर नीचा करके झम-झम करती हुई काम करने लगी। रेवा बहन गुस्से में बड़बड़ाती रही।

रेवा बहन ने जगदीश को नहाने बुलाया। पर जगदीश पट्टी पर पहाड़े लिख रहा था। वह बोला : 'माँ! बस, मैं आ ही रहा हूँ!'

रेवा बहन बोली : 'मैं यहाँ कब तक तुम्हारी बाट देखूँ? अभी तो मुझको हलुआ बनाना है। साग-सब्जी तो अभी आई ही नहीं है! तुम जानते हो न कि आज भोजन के बाद हम सब को बगीचे में जाना है।' जगदीश ने कहा : 'लो···मैं आ गया!'

लेकिन तभी रेवा बहन ने जगदीश की पट्टी उठाकर फेंक दी! पट्टी के टुकड़े-टुकड़े हो गए। जगदीश रोने लगा।

रेवा बहन ने गुस्से में कहा : 'अब रोते क्यों हो? मैं तो तुमको कब से पुकार रही थी, पर तुम अपनी जगह से हिल ही नहीं रहे थे!'

इतने में बड़ा बेटा दीपक आ पहुँचा। रेवा बहन ने पूछा : 'दीपक! तुम कहाँ चले गए थे?'

दीपक बोला : 'माँ! मैं रामजी भाई से कुछ कहने गया था कि वे आज शाम यहाँ आकर हमको अपने जादू के खेल दिखाएँ।'

रेवा बहन गरज कर बोली : 'इसकी अभी कौन जल्दी पड़ी थी ? यह काम तो दोपहर को भी हो सकता था।'

दीपक बोला : 'लेकिन माँ..........'

'चुप रहो ! तुम्हारे पैर घर में तो टिकते ही नहीं हैं !'

दीपक ने कहा : 'लेकिन माँ.......'

रेवा बहन बोली : 'सुनो, अब झटपट ये सारे कपड़े समेट लो। चारों तरफ सब कुछ बिखरा पड़ा है, और तुम्हारी हालत यह है कि तुम अभी तक नहाए भी नहीं हो !'

दीपक का मन नाराज हो उठा। वह नाराज मन से काम करने लगा।

लल्लू रो रहा था। जमुना मुँह फुलाकर चावल बीन रही रही थी। दीपक का चेहरा तमतमाया हुआ था। रेवा बहन का सिर गरम हो उठा था।

घड़ी में सुबह के साढ़े दस बज चुके थे।

मणिलाल अभी तक लौटे नहीं थे। रेवा बहन अधीर बन कर बड़बड़ा रही थी : 'कब साग आएगा, कब रवा आएगा। और कब सारी चीजें बनेंगी ? दो बजे तो हमको रुक्मिणी बहन के घर पहुँचना है ! इनकी आदत में तो कोई फरक पड़ता ही नहीं है ! कोई जान-पहचान के साथी कहीं मिल गए होंगे, और ये उन्हीं के साथ बैठ कर गप शप करने में लगे होंगे !'

इतने में जूतों की आवाज आई और मणिलाल ने हँसते-हँसाते पूछा : 'कहो, लल्लू, जमुना, जगदीश दीपक ! तुम सब तैयार हो रहे हो न ? बोलो, रसोई का काम कहाँ तक पहुँचा है ?'

रेवा बहन की भौंहें तन गईं। गुस्से-भरी आवाज में वे गरज उठीं : 'भला, ये सब तैयार कैसे हो पाते ? आपके ये जगदीश, लल्लू, जमुना और दीपक ! इनमें से किसी में कोई सलीका है ? कोई ढंग-धड़ा भी है ? और आप को तो और भी देर करके आना चाहिए था न ? भला, बिना रवे के मैं हलुआ कैसे बनाती ? क्या दिन में ग्यारह बजे साग-सब्जी लाने का कोई समय होता है ?'

मणिलाल ने कहा : 'हम आज उस·······'

'अभी मुझको आपकी कोई भी बात सुननी नहीं है। आप पहले साग-सब्जी सँवार दीजिए कि मैं उसको चूल्हे पर चढ़ा कर छौंक दूँ।'

मणिलाल धीर-गम्भीर बनकर साग-सब्जी सँवारने लगे। तभी लल्लू आकर कहा : 'माँ, हम को डाँट-फटकार रही थी।' जमुना बोली : 'पिताजी माँ ने जगदीश की पट्टी फेंक कर फोड़ डाली।'

मणिलाल बोले। 'जो हुआ, सो हुआ आज तो हम में से किसी को रोना है और न गुस्सा ही करना है। आज हमारे घर उत्सव होने वाला है। अब तुम सब सुनो, और मैं तुमको जो भी काम करने को कहूँ, तुम करते जाओ।

रेवा बहन गरज उठी : 'हाँ, अब सब बड़ी समझदारी की बातें रहे हैं। यहाँ अब तक जो हुआ, आज जो हुआ, कोई उसको देखने तो आता। देखो, अब यह लल्लू शिकायत कर रहा है कि माँ ने यह किया और किया। और जमुना तो जमुना ही ठहरी। बदसूरत और बदतमीज़!'

सुनकर बच्चे सब सहम उठे।

जब मणिलाल ने साग सँवार दिया, तो रेवा बहन ने धम-धम की आवाज़ के साथ बरतनों को उठा-पटक कर साग छौंक दिया।

रेवा बहन का सिर तपा हुआ था। उनका मिजाज़ बेकाबू था।

रेवा बहन ने कहा : 'कोई इधर रसोई-घर में आना मत। मैं अ ही सब-कुछ कर लूँगी। मुझ को यहाँ आपकी (मणिलाल की) भी नहीं है।'

सब घर में चुपचाप बैठे रहे।

बारह के बाद एक बजे के आस पास भोजन तैयार हुआ। रेवा बह ने सारी तैयारी करके सबको भोजन के लिए बुलाया।

लल्लू, जमुना, जगदीश, दीपक सब नीचा सिर किए भोजन क आए। मणिलाल भी चुपचाप आकर बैठ गए। भला आज रेवा बहन [साथ बोलें और किन को बोलने के लिए कहे!

सब ने गुमसुम बनकर जैसे-तैसे भोजन कर लिया। किसी के मन में कोई खुशी नहीं थी। मणिलाल का मन तो जल-भुनकर खाक हो चुका था !

सब भोजन करके उठे। सब ने मीठा हलुआ खाया था, लेकिन कल रात की बातों में जो स्वाद रहा, वह आज के मीठे भोजन में गायब था। सब ने पान-बीड़े भी खाए, लेकिन कुछ गुस्से में और कुछ अनमने ढंग से।

मणिलाल ने सोचा कि अब वे बिगड़ी बाजी को कुछ सुधार लें, तो अच्छा हो। लेकिन रेखा बहन का सिर तो अभी तपा हुआ ही था। उन्होंने भी थोड़ा भोजन किया, पर उसमें उनकी कोई रुचि नहीं रही।

इस तरह सब का आधा दिन बिगड़ गया !

•

एक सच्ची घटना

आखिर यह दवा तो निर्दोष निकली, और इससे रम्भा को कोई नुकसान नही हुआ, लेकिन अगर शीशी में जहर ही होता, और अनेक उपचारों के बाद भी रम्भा मौत के मुह मे चली गई होती, अथवा किसी भयंकर बीमारी के चंगुल मे फँसी होती तो सोचिए कि क्या होता?

क्या उस दिन की यह असावधानी एक अपराध न मानी जाती? अजी, इसमें मानने या न मानने का सवाल ही कहाँ उठता है? यह तो एक अपराध ही माना जाएगा। क्यों कि इसमे कितना बड़ा सकट समाया हुआ था, इसका अन्दाज तो हमारी आधे घण्टे की हमारी उस परेशानी से लगता ही है।

यह लज्जा-जनक और अपराध-पूर्ण घटना यों घटी थी :

रम्भा को बुखार आ रहा था। मलेरिया था। रम्भा की माँ पुष्पा बहन ने रमानाथ से कहा: 'रम्भा तो आज भी बेचैन ही है। क्या आप उसको कुनैन की एक खुराक दे देंगे?' पुष्पा बहन हाल ही आए मासिक पत्र को खोलकर उसके पन्ने पलटने मे लगी थी। रमानाथ को जल्दी थी। नौकरी पर जाने का उनका समय हो रहा था। कुनैन की शीशी को वे जहाँ-तहाँ खोजने लगे। वे इस कमरे मे, उस कमरे में, सोने के कमरे में, वाचनालय वाले कमरे मे, सब कही झटपट चक्कर लगा आए, पर शीशी उनको कही मिली नही। रमानाथ बोले: 'सुनो, शीशी कहाँ रखी है? मुझको तो मिल नही रही।

रसोई घर मे जाते-जाते पुष्पा बहन ने कहा: 'आप एक बार फिर देख लीजिए। मैं इस समय काम में हूँ।'

रमानाथ अधीर हो उठे थे। उतावली में उन्होंने दूसरी बार सब जगह चक्कर लगाया। एक शीशी मिली। जबरदस्ती रम्भा का मुँह खुलवाकर उसको दवा पिला दी।

रम्भा बोली : 'अरे, आज तो यह दवा जरा भी कड़वी नहीं लगी। आज न तो सुपारी खानी पड़ेगी, और न पानी पीना पड़ेगा।'

सुनकर रमानाथ चौंके। बोले : 'अरे, तुम यह क्या कह रही हो? क्या मैंने तुमको कुनैन नहीं पिलाई? तो मैंने तुमको क्या पिला दिया?'

रमानाथ गहरे सोच में डूब गए, और घबरा उठे।

पुष्पा बहन बोली : 'तो अब आप इसको अस्पताल ले जाइए। ऐसी भी क्या उतावली थी कि जो भी शीशी हाथ में आई, वही उठा ली?'

जवाब में रमानाथ को खीझने की फुरसत नहीं थी। वे तो सीधे अस्पताल पहुँचे। इधर पुष्पा बहन उनकी उतावली को कोसने लगी। और यह सोचकर रोने लगी कि हे राम! अब मेरी रम्भा का क्या होगा?

'कहिए, रमानाथजी! आज आप इस तरह हाँफते-दौड़ते क्यों चले आ रहे हैं?'

'जी' जरा आप इस शीशी को देखिए। इसमें कौनसी दवा है? गलती से दूसरी दवा के बदले यह दवा दे दी गई है।

डॉक्टर ने पूछा : 'किसने दी है?'

रमानाथ बोले : 'जी मैंने अपने हाथों दी है।'

डॉक्टर ने कहा : 'अभी इसकी बात छोड़िए, पहले बीमार को यहाँ फौरन ले आइए। दवा को देख कर क्या करना है? बीमार की हालत देखनी होगी।'

रमानाथ उल्टे पैरों दौड़ पड़े। पानी बरस रहा था। फिर भी दौड़ते-दौड़ते घर पहुँचे, और बीमार को लेकर दौड़ते ही दौड़ते फिर डॉक्टर के पास आए। मन-ही-मन सोच रहे थे कि पता नहीं, क्या हुआ है, और क्या होने वाला है!

डॉक्टर ने रम्मा की जाँच शुरू की। आँखें देखीं, पेट देखा, हाथ देखे, नाखून देखे, सब कुछ देखा, तेजाब डालकर दवा की जाँच कर ली। रंग देखा। स्वाद देखा। सब कुछ देख लिया।

डॉक्टर बोले : 'ठीक पता नहीं चल रहा है कि यह दवा क्या है। लेकिन यह ज़हर तो लगती नहीं है। बीमार पर इसका कोई बुरा असर नहीं हुआ है।

रमानाथ की चिन्ता दूर हुई। उनके चेहरे पर थोड़ी चमक आ गई। डॉक्टर ने कहा : 'सुनिए, रमानाथ जी! जो होना था। सो तो हो गया। लेकिन आपके समान शिक्षित आदमी को मैं उलाहना भी क्या दूँ? क्या आप दवा की शीशी पर बीमार का नाम भी नहीं लिख सकते? आप तो समझदार हैं। पढ़ते लिखते हैं। भाषण देते हैं, लेख लिखते हैं। क्या यह मामूली-सा काम आप नहीं कर सकते? पुष्पा बहन भी पढ़ी-लिखी हैं। क्या वे भी इतना काम नहीं कर सकतीं? गनीमत है कि कोई गड़बड़ नहीं हुई। किन्तु ऐसी स्थिति में तो मौत भी हो सकती है, और बालक भी हाथ से जा सकता है!'

रमानाथ लज्जित हो उठे। डॉक्टर ठीक ही कह रहे थे।

इतना ज्यादा काम था ही क्या ?

बुखार के कारण चन्दन बिछौने में पड़ी छटपटा रही थी। बुखार 105 डिग्री तक पहुँच चुका है, सुनकर चन्दन की माँ फिकर के मारे उठ खड़ी हुईं। चपरासी शंकरभाई बरफ लाने के लिए दौड़े-दौड़े बाजार गए। जीवन भाई बहुत पहले ही डॉक्टर को बुलाने जा चुके थे।

चन्दन का सिर दबाते-दबाते मैं मन-ही-मन गुनगुनाया : 'सारी कोशिशों के बाद भी चन्दन का बुखार तो जाता ही नहीं है। दो-चार दिन बीते न बीते कि फिर आ ही जाता है। दवा तो लम्बे समय से चल रही है, पर उससे कोई आराम नहीं हो रहा।

चन्दन बहुत घबरा रही थी। हाथ से अपना सिर पीट रही थी। सिर बहुत जोरों से दुख रहा था। चन्दन की माँ ने कहा : 'क्या इस घर में कोई इसकी फिकर रखने वाला है ? इसको तो रोज दवाखाने ले जाना चाहिए। एक डाक्टर की दवा से आराम न हो, तो दूसरे डॉक्टर को दिखाना चाहिए। यहाँ काम न बने, तो कहीं दूसरी जगह ले जाना चाहिए। पर किसी को चन्दन की कोई चिन्ता तो है ही नहीं।

चन्दन के लिए मेरे मन में दुःख तो था ही। उसकी माँ के इन शब्दों ने उस दुःख को और बढ़ा दिया। चन्दन बीमार थी ही। माँ के इन शब्दों ने उसकी बीमारी और परेशानी को कुछ बढ़ा देने के अलावा और क्या किया होगा ?

बर्फ आ गई। मैंने उसे चन्दन के माथे पर रखा। चन्दन को कुछ आराम-सा लगने लगा। बुखार धीरे-धीरे कम हो रहा था।

इसी बीच डॉक्टर काका आ पहुँचे।

'क्या चन्दन को फिर बुखार आ गया ? इस समय कितना है।'

'आप इसका बुखार उतारते ही कहाँ हैं ? अभी तो साढ़े तीन है!'

चन्दन की माँ डॉक्टर पर सहसा बरस पड़ी। वे बोली : 'आपको चन्दन का इलाज करना ही कहाँ है ? आप तो दवा के नाम पर इसको पानी-भर पिलाते रहते हैं। आप इसको ऐसी कोई दवा क्यों नहीं देते कि इसे फिर बुखार कभी आए ही नहीं ?'

डॉक्टर के साथ हमारा पुराना सम्बन्ध था। डॉक्टर खुद भी बहुत समझदार थे। सुनी-अनसुनी करके उन्होंने कहा : 'चन्दन के लिए आज जो दवा आई है, वह कहाँ है ? आज इसने दवा की कितनी खुराकें ली हैं ?'

मैं शीशी लाने के लिए उठा। लेकिन इसी बीच चन्दन की माँ ने कहा : इसने दवा पी ही कहाँ है ? यह तो लड़की ही ऐसी है कि दवा पीते समय बहुत नखरे करती है। दवा जितनी आई थी, उतनी ही मौजूद है। इसने तो दवा की एक भी बूँद पी नहीं है।

सचमुच चन्दन ने दवा पी ही नहीं थी।

डॉक्टर ने चिढ़कर कहा : 'भला, ऐसी हालत में इसका बुखार कैसे उतरता ? आज की दवा तो बुखार को रोकने की ही दवा थी,लेकिन चन्दन ने तो दवा पी ही नहीं ! इसको दवा तो पिलानी थी न ?'

चन्दन की माँ भड़क उठीं। बोली : 'इस घर में दवा पिलाने वाले हैं कौन ? भला, मैं इस घर का काम-काज करूँ, रसोई बनाऊँ, छोटे बच्चों को नहलाऊँ-धुलाऊँ या इसको दवा पिलाऊँ ? मैं तो अब बहुत दिक़ आ गई हूँ। चन्दन ने तो अपना मुँह फेर लिया है। उनको दवा पीनी नहीं है, और बार-बार बीमार पड़ना है।'

डॉक्टर ने कहा : 'आइए, हम जरा बाहर बैठें। यहाँ चन्दन को तकलीफ होगी। इसके लिए यह दवा लाया हूँ। दवा उसको पिला दीजिए। बुखार अभी उतर जाएगा।'

चन्दन की माँ अपना मुँह फुलाकर चन्दन के पास जा बैठी, और डॉक्टर के साथ मैं बाहर आया। डॉक्टर ने कहा : 'भले आदमी चन्दन की माँ तो जैसी हैं वैसी हैं, लेकिन आप ऐसे कैसे हैं कि दवा पिलाने में भी आलस्य करते हैं? बच्चे अपनी राजी-खुशी से दवा पीते कब हैं?'

अपना बचाव करने की कोशिश करते हुए मैंने कहा : 'लेकिन डॉक्टर साहब मैं तो अपने काम में लगा हुआ था।'

खीझ-भरी आवाज में डॉक्टर ने मित्रता-पूर्वक कहा : 'भैया, आप ऐसे कौन से काम में लगे हुए थे? दिन में तीन बार ही दवा पिलानी थी। इसमें आपके कितने घण्टे खर्च होने वाले थे? और आपका कितना काम पिछड़ने वाला था? असल बात तो यह है कि दवा पिलाने में आपकी कोई रुचि थी ही नहीं। आपके मन में आलस्य भरा था। जिस पर आप यह कह रहे हैं कि डॉक्टर दवा नहीं दे रहे हैं। अच्छी दवा नहीं दे रहे हैं। इलाज के लिए कहीं और ले जाना चाहिए! अपना दोष दूसरों पर मढ़ने की आपकी यह कैसी रीति-नीति है? आप सब तो समझदार हैं, फिर भला, आपकी यह ऐसी कैसी कुटेव?

सुनकर मैं तो सन्न हो रह गया! कुछ कह ही नहीं पया। डॉक्टर मेरी शरमिन्दगी को पहचान गए। उन्होंने हमको कुछ सूचनाएँ दी, और 'नमस्कार' कह कर वे अपने घर की तरफ चल दिए।

चन्दन का सिर दबाते-दबाते मैं मन-ही-मन सोचने लगा। मैं बार-बार अपने मन से पूछने लगा : 'आखिर मैं ऐसा किन कामों में लगा हुआ था। सुबह उठकर अखबार पढ़ा। क्या यह कोई बहुत बड़ा काम हुआ? अखबार पढ़ने के बाद हजामत बनाई, और चाय पी। क्या यह कोई बहुत बड़ा काम कहा जाएगा? चाय पीने के बाद डाक देखी। यह कौनसा बड़ा काम हुआ। डाक देखने के तुरन्त बाद कुछ मित्र मिलने आ गए। उनके साथ लम्बी गपशप चली। क्या यह कोई बडा काम माना जाएगा? यह सब होते-हवाते सुबह के ग्यारह बज गए, और नौ बजे दी जाने वाली दवा की पहली खुराक नहीं दी जा सकी। क्या यह किसी बड़े काम के कारण हुआ? ग्यारह बजे भोजन किया। भोजन के बाद थोड़ा समय आराम में बीता। साढ़े बारह बजे उठा

और किताब के कुछ पन्ने पढ़े। इसी बीच दूसरी खुराक का समय बीत गया। इस इतने-से काम के कारण दूसरी बार की दवा नहीं दी जा सकी। चन्दन तो आखिर बच्ची ही ठहरी। भला, कड़वी कुनैन पीना किसको अच्छा लगता है ? वह खुद क्यों दवा को याद करती ? उसकी माँ को तो मैं जानता ही हूँ, वे आज डॉक्टर को कैसी खरी-खोटी सुना रही थीं ? तीसरी बार की दवा पिलाने का समय होने के पहले ही चन्दन को फिर बुखार आ गया, और सब दौड़-भाग में लग गए। डॉक्टर ने सच ही कहा था कि असल में अपराध तो मेरा ही है। बिना दवा दिए बीमारी को भगाने की बात करने का दोषी तो मैं ही हूँ। झूठ-मूठ के कामों में उलझ कर सब से पहले करने लायक काम को न करने का दोष तो मैंने ही किया है।

•

लेकिन वह मेरी सुनता ही कहाँ है ?

एक बार माँ-बाप दोनों ने एक साथ अपने बच्चों के बारे में शिकायत पेश की : 'बच्चे हमारी सुनते ही नही है।'

माँ बोली : 'ये मेरी नही सुनते।'

बाप ने कहा : 'हाँ, ये मेरी भी नहीं सुनते। अब इनका क्या किया जाए ?'

जवाब मे मैंने दोनों से पूछा : 'आप दोनों से मेरा एक ही सवाल है। क्या आप दोनों आपस में एक-दूसरे की बात सुनते हैं ?'

सवाल सुनकर माँ-बाप दोनो खिसिया गए।

माँ बोली : 'मैं तो इनकी बात सुनती हूँ, लेकिन ये मेरी बात कहाँ सुनते हैं ?'

बाप ने कहा : 'मैं भी यही कहता हूँ, मैं तो इनकी बात सुनता हूँ, लेकिन ये मेरी बात कब सुनती हैं ?'

मैंने तुरन्त ही कहा : 'आपके बच्चे आपकी बात नही सुनते, वे आपकी आज्ञा का पालन नही करते, इसकी जड़ में आप दोनों का यही व्यवहार है !'

बालक हमारी आज्ञा का पालन नहीं करते, इसके अलग-अलग कारण होते हैं। इन कारणों में एक कारण यह भी होता है कि बालक देखा करते हैं कि घर में माता-पिता एक-दूसरे की बात सुनते और मानते नही हैं। बालक नन्हे होते हैं। हम बड़े उनके लिए आदर्श का काम करते हैं। हम उनके लिए दर्पण बनते हैं। अगर वे हमारा अनुकरण करते हैं, तो इसमें दोष किनका है ?

यदि स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी हमेशा एक-दूसरे की न सुनें, न मानें, तो इस दुनिया का काम ही न चले। हम आपस मे एक-दूसरे की बात मानते-सुनते हैं, इसी से तो यह दुनिया चलती रहती है। लेकिन यह भी सच है कि

अक्सर माँ-बाप एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। उनकी यह टकराहट एक-दूसरे के अधिक निकट आने के लिए भी होती है, और एक-दूसरे का अधिक मजबूत सहारा पाने के लिए भी होती है। अक्सर एक-दूसरे के बारे में जानकारी की कमी या समझ का फेर भी आपस की टकराहट का निमित्त बन जाता है। वैसे, टकराहट स्वाभाविक है, लेकिन उससे बालकों को कोई नुकसान नहीं पहुँचना चाहिए।

बाल-शिक्षा का अथवा सत्य की उपासना का ऐसा कोई तत्त्व नहीं है कि माँ-बापों के सारे व्यवहारों की जानकारी बालकों को होनी ही चाहिए। कई बातें ऐसी होती है कि समय आने पर बालक उनको जान ही लेते हैं, माँ-बापों की आपस की टकराहट या कहा-सुनी उन तक ही रहनी चाहिए। उनकी ये बातें बालकों तक नहीं पहुँचनी चाहिए। कहने का मतलब यह है कि जल्दबाजी में अपने मतभेदों के कारण या दूसरे किसी भी कारण से माँ-बापों को अपने बालकों के देखते आपस में न तो लड़ना-झगड़ना चाहिए, और न एक-दूसरे का विरोध करना चाहिए। उनको एक-दूसरे का अपमान करके एक-दूसरे की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि माँ-बाप के मन में जागे झगड़ों के कारण तो आसमान में उठे बादलों की तरह कभी भी छँट जाते है, और अन्त में एक-दूसरे के बीच रहा निर्मल आकाश-सा प्रेम प्रकट होता है। किन्तु बालक तो अपने माता-पिता को उन बादलों की गड़गड़ाहट से और उसके कारण छाए अँधेरे से ही पहचानते है, और उसी हिसाब से वे उनको मापने-तोलते भी है। अक्सर इसके कारण हुई गलतफहमी की वजह से बालक अपने माँ-बाप के विरोधी बन जाते हैं, वे मन-ही-मन उनको धिक्कारने लगते है, और उनकी आज्ञा का अनादर भी करते हैं। माता-पिता अपने आपस के झगड़ों को अपने तक ही सीमित रखें, इसी में उनका और उनके बालकों का हित निहित है। यही उचित और आवश्यक भी है। इस तरह अपने बालकों को सँभालते-सँभालते एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि जब वे अपने आपसी झगड़ों से सदा के लिए छुटकारा पा जाएँ। कहने का मतलब यह है कि बालकों के सामने तो माँ-बाप का अपना सच्चा प्रेममय स्वरूप ही आना चाहिए। उनका अपना जो शुद्ध, निर्मल आकाश है, वही प्रकट होना चाहिए—क्योंकि वही सत्य है, और वही शाश्वत भी है। बादल तो क्षणिक ही होते है। •

यह तो गँवार है, गँवार !

: १ :

'बेटे तुम खाना खाने के लिए उठोगे या नही ? यह खाना ठण्डा हुआ जा रहा है। मैं तुमको कब से पुकार रही हूँ। तुम उठते क्यों नहीं हो ?'

'अम्माजी ! बस, मैं उठ ही रहा हूँ। यह आखिरी गड्ढा और खोद लेता हूँ।'

'बेटे ! तुम्हारा गड्ढा जाए गड्ढे में ! मैं पूछती हूँ कि तुम अब खाने के लिए उठते हो या नही ? इस चौके मे मैं कब तक बैठी रहूँ ?'

'अम्माजी ! बस, मुझको आया ही समझो। यह गड्ढा तो अब खुद ही चुका है।'

'बेटे ! तुम उठते हो या नही ? तुम न उठे, तो अपने इन रसोई वाले हाथों से ही मैं तुमको तड़ातड़ पीट डालूँगी। गँवार कही के ! पुकार-पुकार कर मेरी जीभ थक गई, पर एक तुम हो कि मेरी पुकार पर ध्यान देते ही नही हो !'

'अम्माजी ! बस, हाथ धोकर आ ही रहा हूँ।'

'हाय राम, अपने इस अभागे गँवार को मैं कैसे समझाऊँ ?'

❀ ❀ ❀

: २ :

'आज इस छगन को छड़ी से पीटिए।'

'आखिर बात क्या है ? सुनो छगन ! इधर आओ।'

'इसकी पिटाई तो होनी ही चाहिए। इसको दो छड़ी जोर से मारिए। बिना मार खाए यह मेरी सुनेगा ही नहीं।'

'लेकिन यह तो बताओ कि मामला क्या है ?'

'यह बिलकुल गँवार बन गया है।'

'अच्छा, पहले मेरे लिए पानी लाओ। मुझको प्यास लगी है। अपनी यह पगड़ी तो मुझे उतारने दो !'

'नहीं, पगड़ी बाद में उतारिए। पहले इस छगन की मरम्मत कीजिए! देखते नहीं हैं, कैसा गाय की तरह गरीब और भीगी बिल्ली की तरह सहम कर खड़ा है !'

'छगन ! कहो, तुमने क्या कर डाला ?'

'पिताजी ! मैंने तो कुछ भी नहीं किया। अपने संग्रह की कौड़ियाँ गाड़ने के लिए मैं उधर आँगन में एक गड्ढा खोद रहा था। तभी अम्माजी ने कहा : 'झट आ जाओ, और खाना खा लो। खाना ठण्डा हो रहा है।' मैं बोला : 'बस यह गड्ढा खोदकर आ ही रहा हूँ। इस पर अम्माजी गुस्सा हो उठीं !'

'तुमको ज़रा रुक जाना था। आखिर देर कितनी होती ?'

'भला, मैं रसोई घर में कब तक बैठी रहती ? आप इस गरमी में चूल्हे के पास बैठकर देखेंगे, तो आपको मेरी तकलीफ का पता चल सकेगा !'

'कुछ देर के लिए खाना ढँक कर रख देना था। यह अपने आप खा लेता।'

'पर खाना बिलकुल ठण्डा जो हो जाता !'

छगन ने कहा : 'लेकिन मुझको गरम खाना पसन्द ही कहाँ है ?'

'आप सुन रहे हैं न ? यह कैसी मुँहजोरी कर रहा है ? अब तो आप इसको चार छड़ी सड़ासड़ जमा ही दीजिए।'

: ३ :

माँ ने अपने बेटे की हाज़िरी में उसकी शिकायत न की होती, तो काम चल सकता था। अपने खिलाफ शिकायत और उलाहने सुनकर कौन बालक है

जिसका दिल दुखता न हो ? कार्यालय से थक कर आए अपने बेटे के बाप से कुछ देर बाद शिकायत की होती, तो क्या वह बेहतर न होता ? जिसको हमने गँवार मान लिया है, क्या हमारा वह बेटा छड़ी की मार खा लेनेभर से चतुर बन जाएगा ? मां अपने बेटे के लिए खाना ढँक कर रसोईघर से बाहर आ जाती, तो क्या उससे उसका काम न बनता ? बाद में बेटे को अपने पास बैठाकर मां उसको प्यार के साथ समझा सकती थीं कि 'बेटे ! अपना खाना तो सुबह-शाम समय पर ही निपट जाना चाहिए। कोई पहले खाए और कोई बाद में खाए या देर में आकर खाए, तो सारा दिन खाने की व्यवस्था में ही बीत जाता है, और दूसरे कामों के लिए समय ही नहीं बचता।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि 'औंस-भर समझाइश सेर-भर मार के बराबर होती है।'

●

मैं इसका क्या उपाय करूँ?

सुमति बहन ने लक्ष्मी बहन से कहा : 'बहन ! मैं इसका क्या उपाय करूँ ? यह जब भी पाटा बिछाती है, जोर से पटक कर ही बिछाती है। दस में से नौ बार तो बिना चूके ऐसा ही करती है। मैं तो अपनी इस सविता के कारण बहुत ही परेशान रहती हूँ।'

लक्ष्मी बहन ने पूछा : 'सुमति बहन ! क्या आपने कभी अपनी सविता को समझाकर कहा है कि वह बिना आवाज किए पाटा बिछाया करे ?'

सुमति बहन बोली। 'बहन, एक बार नहीं कह चुकी हूँ। जब-जब भी पाटे की आवाज आई है, तब-तब मैंने इसको टोका है।'

'लेकिन बहन ! जब एकाध बार यह पाटा धीमे से बिछाती है तो क्या उस समय आपने सविता को कभी यह कहा है कि बेटी, आज तो तुमने पाटा बिना आवाज किए ही बिछाया !'

'नहीं बहन ! ऐसी बात तो कभी कही नहीं। कहने की जरूरत भी क्या है ? कभी भूले-चूके पाटा धीरे से बिछा भी दिया, तो कौन बड़ी बात हो गई ?'

'सुनो बहन ! यही तुम से भूल हो रही है। अकेली तुम ही भूल नहीं कर रही हो बल्कि हम सब भी ऐसी भूलें करते ही रहते हैं। जब बालकों से कोई गलती हो जाती है, तो हम बार-बार उनका ध्यान उसकी तरफ इस तरह खींचते रहते हैं कि वे मानने लगते हैं कि गलतियाँ तो उनसे होती ही रहेंगी, और कोई सही-सच्चा काम उनके किए हो ही नहीं पाएगा। जब बालक की मानसिक स्थिति ऐसी बन जाती है, तो वह ज्यादा से ज्यादा 'गलतियाँ' करता रहता है, और ज्यादा उलाहने भी सुना करता है। सच र

यह है कि जिस तरह बालक गलतियाँ करते है, उसी तरह कई बार वे गलती नही भी करते हैं। अक्सर वे कई अच्छे काम भी करते रहते हैं, पर उनके ऐसे अच्छे कामों का कोई हिसाब हम रखते नही, और न उन कामो की तरफ कोई ध्यान ही देते हैं। उनको उनके दोष दिखाते रहने को तो हम बराबर तैयार रहते हैं, पर उनके गुण देखकर हम खुश नही होते, और उन गुणों की ओर उनका ध्यान खीचकर हम उनको गुणों के प्रेमी भी नहीं बनाते। यह तो सच है न कि सविता दस बार में से एक बार पाटा अच्छी तरह बिछाती है? जब वह ऐसा करती है, तभी तुम उससे कहा करो, 'बेटी, सविता! आज तो तुमने पाटा बहुत ही अच्छी तरह बिछाया है। अच्छा हो कि तुम रोज इसी तरह पाटा बिछाया करो।' सचमुच तुम्हारे मुँह से ऐसी बात सुनकर सविता खुश होगी, और उसका ध्यान अपने इस गुण की तरफ जाएगा। वह अपने इस गुण को बढाते रहने का प्रयत्न करती रहेगी। परिणाम यह होगा कि रुचि और अनगढता का स्थान सुरुचि और सुघड़ता ले लेगी। बालकों की अपनी जो अच्छाइयाँ हैं, यदि हम उनकी कद्र और तारीफ करते रहेंगे, तो उनकी अच्छाइयाँ बराबर बढ़ती रहेगी। इसके विपरीत यदि हम उनकी कमजोरियों पर ही जोर देते रहेंगे, उन कमजोरियों के लिए उनको उलाहने भी दिया करेंगे, और उनकी इन कमज़ोरियो को दूर करने की सीधी कोशिश करेंगे, तो उनमे ये कमजोरियाँ मजबूत होती चलेंगी, समझिए कि जड़ जमाकर बैठ जाएँगी।'

सुमति बहन बोली : 'लक्ष्मी बहन! आपकी ये सब बातें बराबर मेरे गले उतर रही हैं। अब मैं ऐसा ही करके देखूँगी। देखना होगा कि परिणाम क्या निकलता है!'

अभी मटका फोड़ देगा

हमारे घर के सामने एक खवास का घर था। माँ-बेटा दोनों एक साथ रहते थे। माँ गुस्सेबाज थी, और बेटा शराबी था। बेटा रात शराब पीकर आता। उसको देखकर माँ का गुस्सा बढ़ जाता। बेटा पानी पीने के लिए मटके के पास पहुँचता। माँ सोचती कि शराब के नशे में बेटा मटका फोड़ देगा। माँ खुद उसको न तो पानी देती, और न धीमे से समझा कर कहती कि 'भैया, पानी सँभालकर पीना।' उल्टे, वह तो कहती : 'लो, यह अभागा अब आ गया है! यह अभी मटका फोड़ डालेगा' गाली सुनकर लड़का तुरन्त ताव में आ जाता है, और एक धमाके के साथ मटका फोड़ डालता है। मटका फोड़ देने के बाद माँ यह नहीं कहती कि 'खैर, जो हुआ सो हुआ। अब तुम सो जाओ।' माँ तो अधिक गुस्से मे आकर कहती है, 'लो, अब तो यह मुआ काँच के बरतन भी फोड़ेगा। तुरन्त ही टाँड पर रखे काँच के सब बरतन नीचे आ गिरे और चूर-चूर हो गए! इस पर माँ बोली, 'कहीं यह मुआ लकड़ी लेकर मुझको ही न मारने लगे!' और बुढ़िया पर तड़ातड़ लकड़ी बरसने लगी!

बालक शराबी नहीं होते हैं, लेकिन अक्सर माताओं की बोली, जिस माता की बात ऊपर कही गई है, उसके समान होती है। माँ के बोल ही बालक को गलत काम का रास्ता दिखाते हैं। जब बालक से एक गलती होती है, तो हम ही अपने दूसरे बोल से बालक को दूसरी गलती की दिशा में धकेल देते हैं। इस प्रकार हमारे ही कारण बालक गलती पर गलती करने की आदत वाला बनता जाता है।

हाथ में लकड़ी लेकर घूमते हुए बालक को देखकर माँ सहसा कहने लगती है : 'अरे यह अभी मटका या प्याला फोड़ डालेगा।' फिर कहती है : 'यह अभी अपने भाई को मारेगा।' माँ की बात सुनकर बालक मटका फोड़ने

या भाई को मारने के लिए तैयार हो जाता है। पहले माँ खुद ताव में आती है, और फिर माँ की बात सुनकर बालक भी ताव में आ जाता है।

'यह अभी रोएगा', 'यह अभी मचलेगा,' 'यह अभी जिद करेगा,' 'उठा लेने को कहेगा,' 'खाने की चीज माँगेगा,' ऐसे वाक्य बोल-बोलकर हम ही बालक को पहले से सुझा देते हैं कि उसको क्या करना है। हमारी बातें सुन-सुनकर बालक ताव में आ जाता है, और वैसे ही काम करते रहने की लत वाला बन जाता है। एक गलत काम के बाद दूसरा गलत काम न करने का रास्ता दिखाने के बदले हम उससे ऐसी बात कहते हैं कि जिसके कारण वह दूसरा गलत काम करने की ओर मुड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बालक ग़लत रास्ते चल पड़ता है, और बुढ़िया के बेटे की तरह नुकसान करने का या झगड़ा मचाने का रास्ता अपना लेता है।

माता-पिता को इस विषय में जरूर सोचना चाहिए। जो बात हम खुद बोलते हैं, थोड़ी सावधानी के साथ हम उसको खुद ही सुनेंगे, तो हमको बुढ़िया की और उसके बेटे की बात जरूर ही याद आएगी।

●

सुनते नहीं हो, तो क्या मरना चाहते हो ?

माँ रोज कहा करती : 'बेटे ! तुम मेरी सुनते नही हो, तो तुम किसी दिन मर जाओगे।'

लेकिन लड़का तो उल्टी खोपडी का था। वह रोज नई-नई तरकीबें निकालता। नए सवाल खड़े करता। किसी से डरना तो वह जानता ही नही था। वह समूचे गाव को हैरान और परेशान करता रहता था।

गांव से कुछ दूर एक तालाब था। माँ रोज कहती : 'बेटे ! तालाब पर मत जाना। अगर तुमने मेरी बात न सुनी, तो तालाब मे रहने वाला मगर तुमको खा जाएगा। वहाँ एक बहुत बडा मगर रहता है।'

लेकिन लडका ऐसी बातो से डरने वाला था नही। जवाब मे वह कहता : 'माँ ! चलो, तुम मुझ को दिखलाओ कि मगर कैसा है !'

लड़का सहसा बोला : 'माँ ! मुझको थोड़ा पानी पिला दो न !'

माँ ने कहा : 'जरा ठहरो। ऐसी कौन मुसीबत आ पड़ी है ?'

लड़का फिर बोला : 'माँ मुझको पानी पिला दो न !'

माँ ने कहा : 'पानी तुम अपने हाथो पी लो। क्या तुम्हारे हाथ-पैर टूट गए हैं ?'

इस पर लडका बोला : 'तो माँ, सुनो ! मैं यह चला। तालाब पर जाकर वही पानी पी लूँगा।'

लड़का चल दिया।

माँ ने कहा : 'बेटे, ओ बेटे ! मेरी सुनो। लौट पडो। लौटो, लौटो ! तुम मेरी बात सुनते नही हो।तुम बेमौत मर जाओगे।'

लड़का तो मगर को देखना चाहता था। तालाब के किनारे पहुँच कर जैसे ही उसने पानी पीना शुरू किया, मगर ने अपना मुह बाहर निकाला, और लड़के की टाँग पकड़ ली। लड़के की क्या ताकत थी कि वह अपनी टाँग छुड़ा लेता? मगर ने लड़के को निगल लिया। माँ दूर खड़ी-खड़ी देखती रही। भला, वह मगर के पास कैसे जाती?

'माँ तो रोने और बिलखने लगी। अड़ोस-पड़ोस के लोग इकट्ठा हो गए। सब कहने लगे: 'तुमने अपने लड़के को रोका क्यों नहीं? वहाँ उसकी ऐसी क्या चीज पड़ी थी कि तुमने उसको वहाँ जाने दिया?'

माँ बोली: 'अरे भैया! अपनी तरफ से तो मैंने उसको बहुत मना किया। कहते-कहते मेरी तो जीभ सूखने लगी। लेकिन उसने मेरी एक न सुनी। जो अपने माँ-बाप की बात नहीं मानते, उनके ऐसे ही हाल होते है।'

पड़ोसी कहने लगे: 'हाँ बहन! आजकल के ये लड़के कुछ ऐसे ही हो गए हैं। ये अपने माँ-बाप की बात तो सुनते ही नहीं है। फिर इनकी ऐसी हालत न हो, तो और क्या हो?'

लड़का मगर के पेट मे पहुँचा। लेकिन वह कच्चा-पोचा तो था नहीं। वह तो अपनी कमर मे छुरी रखकर गया था। छुरी से मगर का पेट चीर कर वह बाहर निकल आया, और दौड़ता-दौड़ता घर पहुँच कर माँ से कहने लगा: 'माँ! तुम तो कहती थी कि मैं तुम्हारी बात नहीं मानूँगा, तो मैं मर जाऊँगा!'

: २ :

अफ्रीका में प्रचलित एक कहानी है। कहानी बिलकुल झूठी है। लेकिन उसमें एक रहस्य है। हम अपने परिवारों के कुछ उदाहरण लें। लड़का कहता है: 'माँ! मुझको इस निसैनी पर चढ़ना है।' माँ कहती है: 'नहीं, मत चढ़ो।' लड़का माँ की बात नहीं मानता, और निसैनी पर चढ़ने लगता है। माँ कहती: 'बेटे! सुनो, तुम गिर पड़ोगे।' लड़का निसैनी पर चढ़कर फिर नीचे उतर आता है, और अपनी माँ से कहता है: 'माँ! तुम तो कहती थीं, कि मैं गिर पड़ूँगा। लेकिन मैं गिरा तो नहीं!'।

नन्हा-सा बालक पूछता है : 'माँ ! मैं पटिया ले आऊँ ! दूध की बोतल ले आऊँ ! अमुक चीज ले आऊँ ? तमुक चीज ले आऊँ ?' माँ कहती है : 'नहीं, मत लाओ। तुम्हारे हाथ से गिर पड़ेगी।' बालक कहता : 'नहीं, मैं तो लाऊंगा।' माँ कहती है : 'बेटे ! तुम रहने दो। चीज तुम्हारे हाथ में गिर पड़ेगी, और तुम्हारे पैर में चोट लग जाएगी।'

'हाँ, और 'ना' का यह सिलसिला चलता रहता है, इसी बीच बालक अपनी सोची हुई चीज उठा कर ले आता है, और माँ से कहता है। 'माँ ! तुम तो कहती थी कि मेरे पैर में चोट लग जाएगी। लेकिन देखो, मुझ को तो कोई चोट लगी नहीं !'

हमारे घरों में ऐसी घटनाएँ घटती ही रहती हैं। इधर माँ मना करती है। उधर बच्चा अपनी पसन्द का काम करना चाहता है। माँ अपनी मनाही का कारण बताती है। उधर बच्चा माँ की बात को गलत साबित कर देता है। माँ को लगता है कि बच्चा उसकी बात सुन नहीं रहा है। वह सिर-फिरा बन गया है। बच्चा सोचता है कि माँ नाहक मना करती रहती है, और उसको गलत-सलत समझाती रहती है। माँ कहती है : 'यह हो जाएगा, वह हो जाएगा।' बच्चा साबित कर देता है कि वैसा कुछ होता नहीं है। इधर माँ बच्चे को काम करने से रोकना चाहती है। उधर बच्चा काम करके दिखा देता है, और माँ की बात को उलट देता है। इस तरह माँ को मना रहते करने की, और बच्चे को माँ की बात न मानने की आदत पड़ जाती है।

अपनी बात मनवाने का एक अजीब-सा शौक हमको होता है। इसके लिए हम बालक को डाँटते-डपटते रहते हैं, और उसको मारते-पीटते भी हैं। बीच-बीच में हम उसको लालच भी दिखाते रहते हैं। माँ-बाप की बात न सुनने वाले बालक के ऐसे हालत होते हैं, और वैसे हालत होते हैं, इस बात को उसके गले उतारने के लिए बालक को मक्खी की और उसके बच्चे की कहानी सुनाई जाती है, और उस पर यह असर डाला जाता है कि उसको अपने बड़ों और बूढ़ों की बात माननी ही चाहिए। न मानने से उसको पाप लगता है। नदी उसको बहाकर ले जाती है, या वह खौलते हुए पानी के कड़ाह में गिर

कर मर जाता है, अथवा मगर उसको निगल जाता है लेकिन माँ-बाप की ऐसी मनाहियों की परवाह न करके अपनी मरजी का काम करने वाला बालक तुरन्त ही समझ जाता है कि माँ-बाप की मनाही बिलकुल बनावटी है। कभी माँ-बाप की कही बात सच भी निकलती है, तो ऐसे मामलों में बालक अपने अनुभव से यह समझ लेता है कि वह ठीक-से चल नहीं पाया, इसलिए गिर पड़ा। माँ-बाप के मना करने पर भी वह खेलने चला गया था, इसलिए उसको चोट लगी, ऐसी कोई बात असल में होती नहीं है। ऐसी स्थिति में कुछ बालक यह भी मानते हैं कि अपनी माँ की बात न मानने से वह गिरा, या उसको चोट लगी। लेकिन बच्चों का यह विचार लम्बे समय तक टिक नहीं पाता। अगर टिकता है, तो बालक में कार्य-कारण को गलत रीति से जोड़ने की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। उसके मन में यह डर भर जाता है कि माँ-बाप की बात न मानने से उसका कुछ-न-कुछ नुकसान होता ही है। जहाँ मन में ऐसा शक या वहम पैदा हो जाता है, वहाँ बुद्धि का अंधेरा छा जाता है।

हमें अपने बालकों को गलत ढंग से समझाना नहीं चाहिए। ऐसा करके हम खुद ही उनके जीवन में अश्रद्धा और आज्ञापालकता का अभाव उत्पन्न कर देते हैं। जहाँ बालक की वास्तविक सुरक्षा के लिए उचित रोक लगाना बहुत जरूरी हो जाए, वहीं हम उसको रोकें, और रोकने के बाद जब तक बालक रोक के कारण को ठीक से समझ न ले, तब तक हम उसको सच्चे कारणों की जानकारी देते रहें, बिलकुल नन्हे बालकों को भी धीमे से समझाते हुए यदि हम उनको सही जानकारी देते हैं, तो वे उसको समझ लेते हैं।

लोक-शिक्षा का काम करने वाले हमारे कुछ लोग बालकों को ऐसी कहानियाँ सुनाते हैं, जिनमें यह बताया जाता है कि बालक ने अपनी माँ की बात नहीं मानी, इसलिए वह मर गया! अफ्रीका में लोक-शिक्षा का काम करने वाले अपनी ऐसी कहानियों के द्वारा माँ को यह सिखावन देने-से लगते हैं कि इस तरह मनाही करके वह बालक को जहाँ-तहाँ जाने से रोके नहीं।

नहाने की मनाही

कुछ समय पहले अपने छोटे बालकों को लेकर हम एक नदी पर नहाने गए थे। हमारे बाल-मन्दिर के कई बालक आए थे।

नदी का पानी अपनी कल-कल, छल-छल आवाज के साथ बह रहा था। छोटे बालक अपने घुटनों तक पहुँचने वाले पानी में नहा रहे थे। वे एक दूसरे पर पानी फेंक कर हँस रहे थे। पीठ के बल पानी में बैठकर वे आसमान के सामने देख रहे थे। कोई-कोई मछली की तरह पानी में बह रहे थे। बालकों की अपनी बढ़िया जल-क्रीड़ा चल रही थी।

मैं उधर से निकला। एक भाई किनारे खड़े-खड़े यह सब देख रहे थे। मैंने उनसे पूछा : 'क्यों भैया ! आप नहा लिए ?'

वे बोले : 'नहीं।'

मैंने कहा : 'आइए, हम नहा लें।'

वे रोने लगे और बोले : 'मेरी माँ ने नहाने की मनाही की है।'

मैंने पूछा : 'भला क्यों ?'

मैंने बहुत आग्रह किया, पर वे नहाने को तैयार नहीं हुए।

मैं विचार करने लगा : 'आखिर माँ ने मनाही क्यों की होगी ?'

मुझको लगा कि बालक अपनी माँ का बहुत ही लाडला होगा, शायद इकलौता भी हो, इसलिए माँ ने सोचा होगा कि कहीं उसका बालक पानी में डूब न जाए। नदी की तेज धारा में बह न जाए।

इसमें सन्देह नहीं कि इस मामले में माँ का अपना पुत्र-प्रेम ही काम कर रहा होगा। अपने बालक की सुरक्षा के विचार से ही माँ ने उसको नदी में नहाने से रोका होगा। और जब नदी में नहाए बिना ही बालक कुशल-पूर्वक

घर पहुँचेगा, तो सचमुच माँ का यह विश्वास दृढ़ होगा कि इस तरह बालक को लिखा-पढ़ाकर और नदी में न नहाने का हुक्म देकर उसने अपनी दृष्टि में तो ठीक ही किया है।

बालक की दृष्टि से देखें, तो बालक के लिए माँ का यह जो प्रेम है, और इस प्रेम के मूल में माँ के हृदय की जो भावना है, उसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। फिर भी कहना होगा कि इसमें अज्ञान है, अथवा प्रेम की विकृत भावना है। माँ के मन में सहज ही यह भावना बनी रहती है कि उसका बालक सदा सुरक्षित रहे। किन्तु इसी के साथ माँ का मन यह भी चाहता है, उसको चाहना चाहिए, कि उसके बालक के शरीर और मन की सब शक्तियों का अच्छा विकास हो। बालक के प्रति माँ की अति ममता बालक के अपने विकास में ही बाधक बने, तो वह उसका मातृ-प्रेम नहीं, बल्कि मातृ-स्वार्थ ही माना जाएगा। माँ कभी यह न चाहेगी कि उसके बालक को कहीं कोई चोट पहुँचे। किन्तु इसी के साथ यदि माँ इस बात की चिन्ता न रखे कि उसका बालक निष्क्रिय और अशक्त न रहे, तो मानना होगा कि माँ की बुद्धि और भावना अविकसित और अन्धी रह गई है।

मान लीजिए कि बीस साल की अपनी उमर में यह बालक तैरना न जानने के कारण ही किसी बाढ़ में बह जाता है, जब कि इसके वे साथी जो नदी में नहाते-नहाते धीरे-धीरे तैरना सीखकर निर्भय बने हैं, बच जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में इस बालक की माँ क्या सोचेगी? वह तो अपना सिर पीटकर कहेगी कि हाय, हाय, मैं कैसी कम अकल रही कि मैंने खुद ही अपने बालक को शक्ति-सम्पन्न होने से रोका? खुद मैंने ही उसके हाथ-पाँव काट डाले, अथवा उनको बाँधकर रखा!

बहुत ज्यादा फिकर रखने वाली माताओं के बालकों की यही हालत होती है। यही सहज भी है। बालक का मूल स्वभाव अपनी हलचलों से शक्ति प्राप्त करने का है। किन्तु जब कोई शुभ चिन्तक माता बालक को सब तरह के काम करने से रोकती है, और बालक की सुरक्षा के विचार से उसके सारे काम खुद कर देती है, या करवा देती है, तब बालक निकम्मा बनकर अन्दर-ही-अन्दर सड़ने लगता है। उसकी शक्ति का प्रवाह थोड़े समय के लिए जोर

पकड़ने के बाद फिर क्षीण होने लगता है । बार-बार रोने और हाथ
पछाड़ने के बाद उसका अपना व्यक्तित्व कुण्ठित होने लगता है ...
बालक हताश बनकर अशक्त होते रहने की दिशा पकड़ लेता है । इस तर
धीरे-धीरे वह अपना आत्मविश्वास खो बैठता है । वह अपनी माँ को ही सर्व
और सर्वशक्तिमान मानने लगता है । माँ की हर बात उसके लिए शास्त्र
वचन बन जाती है । वह खुद सोचने और काम करने की अपनी शक्ति खो दे
है । वह बार-बार अपनी माँ से पूछता रहता है : 'माँ ! मैं यह करूँ ? माँ
मैं वह करूँ ?' वह अपनी माँ की 'हाँ' और 'ना' का पाबन्द बन जाता है
उसमें उसका अपना कोई अपनापन रहता ही नहीं । लोग उसको अपनी
का पिट्ठू और माँ का फरमाबरदार कहने लगते हैं । बाद में अपने इ
फरमाबरदार बेटे से माँ कहती है : 'अभागे ! तू ऐसा नामरद कैसे बन गया
कम्बख्त ! तुझको इतना सम्भाला और सहेजा, क्या इसी कारण तू इतन
निकम्मा बन गया है ?' आदि-आदि । लेकिन यह सब तो 'का वर्षा, ज
कृषि सुखाने' जैसी बात हो जाता है !

माँ को बालक की चिन्ता तो रहनी ही चाहिए । लेकिन यह चिन्त
बालक के लिए हमेशा हितकारी होनी चाहिए । यह चिन्ता न तो कल्पित
होनी चाहिए, और न अकारण ही होनी चाहिए । असल में, माँ को अपने
बालक से कहना यह चाहिए था कि : 'बेटा ! तुम्हारे शिक्षक जहाँ कहे, वहीं
तुम नहाना । जहाँ सब नहाते हों, वहीं तुम भी नहा लेना बिना अनुमति के
घुटने-घुटने पानी से आगे मत बढ़ना ।'

माँ को अपने बालक के बारे में शिक्षक से भी बात कर लेनी थी।
शिक्षक को सब-कुछ समझा देना था । भले ही बालक को अपने साथ ले जाने
वाले पर हमारा पूरा भरोसा हो, फिर भी माँ का मन अपनी ओर से दो बात
कहे बिना रहता ही नहीं । माँ अपनी बात जरूर कहे । किन्तु इसके बाद, जिस
शिक्षक को बालक सौंपा है, उस पर, और सबसे बड़े गुरु भगवान पर, भरोसा
करने की बात माँ को सीख लेनी चाहिए ।

सब माताएँ हमेशा यह नहीं सोचती कि कभी, किसी पर कोई भरोसा किया ही न जाए। किसी का मातृ-प्रेम भरोसे पर निर्भर करता है, किन्तु वह बालक के बारे में पूरी तरह निश्चिन्त नहीं रह सकता। माता को चाहिए कि वह अपनी इस कोमल भावना को बालक के ही हित में कुछ कठोर बना ले। इस तरह कठोर बनी हुई कोमलता को ही सच्ची और संतुलित भावना मानना चाहिए। कई माताएँ अपनी दुर्बल भावना के कारण अपने बालकों को निर्बल बनाए रखती है, और आखिर वे उनको खो बैठती हैं।

जिस समय इस बालक के संगी-साथी नदी में नहाकर नहाने का आनन्द ले रहे थे, पानी के साथ अपनी पहली पहचान का मजा ले रहे थे, तैरने की कला सीखने की कोशिश में लगे थे, आत्मविश्वास का और स्वतन्त्रता का अनुभव कर रहे थे, उस समय यह बालक नदी-किनारे खड़ा-खड़ा रो रहा था! यह खुद तो नहाना चाहता था, पर इसकी माँ की मनाही इसको रोके हुए थी। खुद अपना विकास करने के बदले यह अपनी कुण्ठा बढ़ा रहा था। अपनी माँ की आज्ञा के कारण खुद जीते-जी एक पत्थर बनकर रह गया था। काश! इसकी माँ ने ऐसी मनाही न की होती!

हमारी टोली के दूसरे सब बालक तो अपने-अपने घर जाकर अपनी माँ से और अपने पिता से कहेंगे : 'हम नदी में यों नहाए और त्यों नहाए। हम तैरना सीख गए। हमने पानी में ढेर सारी डुबकियाँ लगाईं। हमने पानी उछालने के खेल खेले' और, अपने बालकों की ये बातें सुनकर माँ-बाप दोनों को खुशी हुई होगी।

अब सोचिए कि यह बालक अपने घर जाकर अपनी माँ से क्या कहेगा? माँ पूछेगी : 'तुम नदी में नहाए तो नहीं न?' बालक कहेगा : 'मैं नहीं नहाया।' और जब उसको नदी की ओर उसमें नहाने वाले अपने साथियों की याद आएगी, तो वह रो पड़ेगा और कहेगा : तुम्हीं ने मुझको कहा था कि मैं नदी में न नहाऊँ।'

बालक की बात सुनकर माँ उस पर नाराज होगी और उससे कहेगी : बेटे! 'तुम रोते क्यों हो? न नहाकर तो तुमने अच्छा ही किया है। तुम

कितने समझदार हो कि तुमने मेरी बात मानी। ठीक है कि नदी में नहाते समय कोई बालक बहा नहीं। लेकिन अगर कोई बह जाता तो सोचो कि कितना अनर्थ हो जाता ?' बालक फिर अपनी माँ की वियंसी दलील के चक्कर में फँस जाएगा वह रोना भूल जाएगा, और सोचेगा : 'अच्छा ही हुआ कि मैं डूब नहीं गया !'

यह बालक जब बड़ा होगा, और कभी डूबेगा ही नहीं, तो अपने बालकों को भी वह पानी में उतरने नहीं देगा, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि वे पानी में डूब जाएँ !

वह चोट खा जाती !

मैं अपने एक मित्र के घर बैठा था। इतने में एक छोटे बालक की शिकायत लेकर मित्र की माताजी हमारे पास आईं और बोलीं : 'ज़रा इस लल्लू को धमकाओ। अपनी मुन्नी को यह इस तरह दौड़ा रहा था कि अगर वह गिर पड़ती, तो चोट खा जाती।'

मित्र समझदार थे। उन्होंने माता जी का गुस्सा देख लिया। मुन्नी की आखों में शिकायत का जो जोश उतर आया था, उसको भी देख लिया। फिर धीरे-से हँसते हुए कहा : 'लेकिन चोट लगी तो नहीं न ! तो बस, मामला खतम !' सुनकर माताजी झल्ला उठीं। बोलीं : 'लेकिन अगर मुन्नी चोट खा जाती तो उसके हाथ-पैर न टूट जाते ? हमारे घर यह सब नहीं चलेगा। लल्लू लाड़ला है तो भले ही अपने घर में वह लाड़ला बना रहे !'

मित्र ने फिर हँस कर कहा : 'लेकिन माताजी ! मुन्नी को चोट लगी तो नहीं है न ?'

माताजी और अधिक झल्लाईं और बड़बड़ाती हुई बोलीं : 'लेकिन अगर मुन्नी चोट खा जाती, तो क्या होता ?' वे जाते-जाते बोलीं : 'कल लल्लू को यहाँ आने दो। मैं ही उसको धमकाऊँगी।'

मेरे मित्र का व्यवहार उचित ही था। वैसा ही होना चाहिए था। हम इतनी बात भी साफ़-साफ़ नहीं समझते कि 'अमुक काम ऐसा हो जाता', इसी को एक आधार बनाकर लड़ना-झगड़ना, और डाँटना-डपटना कितना मूर्खतापूर्ण है ? दो बालकों के बीच ऐसी कोई घटना घट जाती है, तो हम तुरन्त ही 'ऐसा होता, ऐसा होता, ऐसा होता' कह कहकर चीखने-चिल्लाने लगते हैं, कलपने-जलपने लगते हैं, और इस तरह आपस ही आपस में झगड़ों

के बीज बो देते है। और, सच तो यह है कि ऐसी ही कई नाकुछ-सी बातों को लेकर बहुतेरे पड़ोसी आपस में लड़ते-झगड़ते देखे जाते हैं।

किसी बात को देखने-समझने की हमारी दृष्टि मे जो फरक होता है उसी के कारण इस तरह सोचने की एक आदत-सी पड़ जाती है। हम बड़े-बूढ़े लोग अपने जीवन में इस बात की कल्पना कर-करके थर्रा उठते हैं कि 'अगर ऐसा हो, अगर ऐसा हो, तो ऐसा हो ही जाए!' और असल में जहाँ कोई दुःख नही होता, वहाँ भी हम दुःख का अनुभव करने लगते हैं। अपनी इसी आदत के कारण ही हमने 'ऐसा हो जाता' का एक भय अपने मन में भर रखा है। हमेशा की हमारी यह आदत आपसी कलह का एक कारण बनती है लेकिन अगर हम में सही दृष्टि मे देखने की समझदारी हो, तो हम यही सोचेंगे कि 'अच्छा ही हुआ, जो ऐसा हो नहीं पाया।' चोट लगी नहीं, तो यह एक फायदा ही हुआ। दियासलाई सुलगी, लेकिन उस से आग नहीं लगी, तो वह एक बड़ा लाभ ही हुआ। भूल से छुरी पर पैर पड़ गया, पर पैर कटा नही, तो वही एक बड़ी कमाई हो गई। चोट सीधी लगी नहीं, वार खाली गया, तो वही एक लाभ हुआ।'

दो पहलुओं में से हम अच्छे पहलू को देखें, सीधी बाजू का विचार करें, तो हम सुखी बन सकते हैं। बालकों की शिकायतें लेकर, 'ऐसा हो जाता', कहते हुए, हम किसी के साथ लड़ने-झगड़ने न जाएँ।

अलबत्ता, इसका मतलब यह नही कि किसी की भी मनमानी होती रहे, और हम उसकी परवाह ही न करें। अथवा कोई दुर्घटना घटने की सम्भावना हो, और तब हम दूरन्देशी से काम न लें। बात 'होने देने' की नहीं है। हो जाने पर उचित उपाय तो करना ही चाहिए। कुछ हो न जाए, इसकी चिन्ता या फिकर भी रखनी चाहिए। लेकिन जो हुआ नही है, मन में उसके हो जाने का भय रखकर या उसकी चिन्ता करके न तो हम खुद दुःखी हों, और न बालकों के साथ या उनके माँ-बापों के साथ लड़ें और झगड़ें।

बालक के प्रति अश्रद्धा

छोटा बच्चा यह मानकर कि उसमें शक्ति आ चुकी है, अपनी इस शक्ति में विश्वास रखकर पतीली उठाता है और अपनी माँ को देने जाता है। माँ कहती हैं : 'तुम पतीली रख दो। यह तुम से नहीं उठेगी'।

बच्चा मेहनत करके निसैनी पर चढ़ने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। दो सीढ़ियाँ चढ़ चुकने के बाद जब वह तीसरी सीढ़ी पर चढ़ने लगता है, तो पिता उससे कहते हैं : 'बेटे ! नीचे उतरो। अभी निसैनी पर चढ़ने लायक तुम हुए नहीं हो। निसैनी पर से गिरोगे, तो तुम्हारी हड्डी-पसली टूट जायेगी।'

बच्चा अपनी अँगुलियों का ध्यान रखकर साग काट रहा है, या पेन्सिल की नोक निकाल रहा है। तभी पिता नाराज होकर कहते हैं : 'बेटे ! चाकू नीचे रख दो। अभी तुम बच्चे हो। बड़ों का यह काम तुम क्यों कर रहे हो ?'

बच्चा कहता है : 'अब तो मैं इस बड़े गड्ढे को लाँघ सकता हूँ। अब तो मैं यह इतना बड़ा पत्थर उठा सकता हूँ।' तभी अन्दर से आवाज आती है : 'बेटे ! चीटे की कमर सँभालना।'

दरवाजा खुल नहीं रहा है। बच्चा कहता है : 'आप हटिए, मैं खोल देता हूँ।' सब उसको शरमिन्दा करते हुए कहते हैं : 'बेटे ! यह तुम्हारे बूते का काम है नहीं।'

घर के बड़े-बूढ़े संकट के किसी अवसर पर किसी समस्या को सुलझाने में लगे हैं। यदि किसी समय कोई बालक आकर अपनी दृष्टि से समस्या का कोई हल सुझाना चाहता है, तो उसकी बात सुनकर सब कहते हैं : 'लो, देखो ! कुम्हार से गधा अधिक सयाना है !'

लड़की दाल-साग छौंकना चाहती है। माँ, कहती हैं : 'बेटी! तुम जल जाओगी।' लड़की कहती है : 'माँ मैं चावल बीनना चाहती हूँ।' माँ कहती हैं : 'बेटी! तुम गिरा दोगी। तुमको चावल बीनना आता नहीं है।'

बार-बार इस तरह की बातें कहकर हम बालक के मन में अपने प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करते रहते हैं। बालक अमुक समय में अमुक काम सीखना चाहते हैं। उस समय का उनका उत्साह जबरदस्त होता है। नया-नया जानने की वृत्ति उनके अन्दर से प्रकट होती है, इसलिए वे हर काम में अपनी दिलचस्पी दिखाते है, और इसी कारण वे अपना काम पूरी एकाग्रता से करते हैं। ऐसे समय में वे अपने आपको पूरी फिकर के साथ सँभाले रहते हैं। ऐसी स्थिति में जब उनसे कहा जाता है कि वे अमुक काम को इस या उस रीति से करें, तो वे भूल से बचने के लिए असाधारण सावधानी रखकर काम पूरा करते हैं। जब अपने विकास के लिए आवश्यक कोई काम उनको मिलता है, तो उनके चेहरे पर आनन्द छलकने लगता है, और उनका शरीर चेतना से भर उठता है। जैसे-जैसे वे काम करते जाते हैं, वैसे-वैसे पल-पल में काम करने की अपनी शक्ति में उनका विश्वास बढ़ता रहता है। इस बढ़े हुए विश्वास के कारण ही बालक हम से कहते हैं : 'हम यह काम कर सकेंगे। इसको हमें करने दीजिए। हम इसको करना जानते हैं!' यदि हम उनको काम करने से रोकते हैं, तो अक्सर वे हम से झगड़ते हैं, और हमारी मार भी खाते हैं।

किन्तु इस तरह बार-बार मना करने से, और यह कहते रहने से कि तुम यह काम नहीं कर सकोगे, बालक अपना आत्मविश्वास खो बैठता है। इसके बाद तो वह खुद काम करने से ही डरने लगता है। काम शुरू करते समय उसको अपने माँ-बाप की बातें याद आती हैं, और वह काम करना छोड़ देता है। वह खुद यह मानने लगता है कि सचमुच उससे यह काम होता ही नहीं। जब कोई उससे कहता है : 'बेटे! सुनो, वह पाटा यहाँ ले आओ!' तो वह पाटा लाने से इन्कार कर देता है। यदि जबरदस्ती की जाती है, तो पाटा उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ता है और तब बालक रोने लगता है।

कारण पूछने पर पता चलता है कि बालक यह मानने लगा है कि यह काम उससे हो नहीं सकता। ऐसी हालत में वह उस काम को कर कैसे सकता है ?

मुझ को ऐसे कई उदाहरणों की याद है। उनमें से एक ही उदाहरण यहाँ देना काफी होगा। चन्द्रशेखर की माँ ने उनके अन्दर अविश्वास की भावना भर दी थी। मैंने उनसे कहा : 'भैया ! चलो, हम इस पुल पर चलें।'

वे बोले : 'मैं नहीं चल सकता। मैं डूब जाऊँगा।'

मैंने पूछा : 'डूबने की बात किसने कही है ?'

वे बोले : 'मेरी माँ ने कही है।'

मैंने कहा : 'चन्द्रशेखर भाई ! वह पत्थर उठा लाओ।'

वे बोले : 'मैं नहीं उठाऊँगा।'

मैंने पूछा : 'क्यों नहीं उठाएँगे !'

वे बोले : 'मुझ से वह उठेगा नहीं।'

मैंने पूछा : 'आपने यह बात कैसे जानी ?'

वे बोले : 'मेरी माँ ने कहा है कि मुझसे यह उठेगा नहीं।'

मैंने कहा : 'लेकिन मैं कहता हूँ कि आप इसको उठा सकेंगे। आइए, हम उठा कर देखें।'

अन्त में उनके साथ रहकर जब मैंने उनको विश्वास करा दिया कि वे इस काम को कर सकते हैं, तो वे सहज ही हँसे और फिर किसी विचार में डूब गए।

उस दिन से चन्द्रशेखर के जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ। उनमें खोई हुई श्रद्धा की किरणें फिर प्रकट होने लगीं।

बालकों में अश्रद्धा उत्पन्न करके हम उनको शक्तिहीन बना डालते हैं। असल में बालकों के प्रति हमारा अविश्वास या हमारी अश्रद्धा हमारे अपने अविश्वास और हमारी अपनी अश्रद्धा की सूचक है।

हमको अपने बालकों में विश्वास रखने की अपनी शक्ति और अपने साहस का विकास करना चाहिए। यदि हम उनमें थोड़ी भी श्रद्धा रखेंगे, तो वे हमको यह प्रतीत करा ही देंगे, कि वे बहुत अधिक श्रद्धा के पात्र हैं। बालक छोटा है, पर वह मनुष्य है, और अपनी मनुष्यता का विकास करने के प्रयत्न में लगा है। हमारा काम है कि हम बालक में विश्वास रखें, और आगे बढ़ने में उसकी मदद करें। बालक हमारे विश्वास का अधिकारी है। हम उसको विश्वास दें।

टोका टोकी

जिनको बार-बार दवा खाते रहने की आदत पड़ चुकती है उन पर दवा या तो बहुत ही कम असर करती है, या बिलकुल नहीं-जैसा ही असर करती है। डॉक्टर को रोज-रोज दवा की मात्रा बढ़ानी ही पड़ती है। अपने ऐसे बीमारों को डॉक्टर 'क्रॉनिक पेशेण्ट्स' कहते हैं। डॉक्टर दवा देते रहते हैं। बीमार लोग दवा पीते रहते हैं। बीमारी आगे बढ़ती रहती है और जिन्दगी घटती रहती है।

इसका कारण क्या है? मूल कारण है, आदमी का बीमार पड़ना। यदि आदमी ने अपने स्वास्थ्य को सँभाला होता, तो उसको दवा पीनी ही न पड़ती। दूसरा कारण यह है कि डॉक्टर ने उसको स्वस्थ रहने का रास्ता न दिखाकर सिर्फ उसकी बीमारी मिटाने का प्रयत्न किया। तीसरा कारण यह है कि जैसे-जैसे बीमारी दूर हुई, वैसे-वैसे दवा की ज्यादा-से-ज्यादा तेज खुराकें दी गईं। अब डॉक्टर और शरीर-शास्त्री मानने लगे हैं कि इन उत्तेजक दवाइयों से और इनके मन्द परिणामों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए दवाखानों के बदले आरोग्य-सदनों का निर्माण किया जाना चाहिए, और अब डॉक्टरों की जगह आरोग्य-शास्त्रियों को ले लेनी चाहिए। दवा के लिए दौड़ने वाले बीमार को दवा के बदले पहले से ही शुद्ध हवा का लाभ देना चाहिए।

इस विचारधारा को ध्यान में रख कर बाल-शिक्षा के क्षेत्र में हम टोका टोकी के स्थान पर विचार करें। माँ-बाप बार-बार हम से पूछते रहते हैं: 'भैया! अपने इन बच्चों का अब हम क्या करें? हम कह-कहकर थक जाते हैं, पर ये बच्चे हैं कि हमारी कोई बात सुनते ही नहीं। एक बार कही गई बात को तो बिलकुल अनसुनी ही कर देते हैं! जब पाँच-पचास बार

कहते है, तब कहीं ये थोड़ा ध्यान देते हैं। आखिर इसका इलाज क्या है? इनको जितना ज्यादा कहते है, ये उतनी ही ज्यादा अनसुनी करते है!'

हम ऊपर देख चुके हैं कि दवाइयाँ जितनी ज्यादा ली जाती हैं, उतनी उतनी ही अधिक मात्रा में लेना जरूरी हो जाता है, और तभी उनका थोड़ा असर होता दिखाई पड़ता है। टोका टोकी के मामले में भी यही स्थिति बनती है। हम बालकों को जितना ज्यादा टोकते हैं, टोका टोकी की मात्रा उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती है। जिस तरह लम्बे समय के बाद दवा अपना कोई असर नहीं दिखाती, उल्टे, वह कोठे पड़ जाती है, उसी तरह जब लम्बे समय तक एक ही बात बार-बार कही जाती है, तो सुनने वाले पर इन शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सुनने वाला सुन-सुनकर इतना 'ढीठ' या पक्का हो जाता है कि वह सोचने लगता है : 'भई, ये तो कहते ही रहते हैं। दिन भर इनकी एक ही रट चलती रहती है। ये अपनी आदत से लाचार हैं। हम तो जो करते रहे है, बस, वही करते रहें!' लगातार टोकते रहने से बालक में एक ऐसी मानसिक वृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

असल दोष इस बात में है कि बालक के साथ व्यवहार कैसे किया जाए? अधिकतर तो बालक हमारी बात सुनने और खुशी-खुशी वैसा करने के लिए तैयार होता है। उसके मन की सहज वृत्ति तो स्वस्थ होती है। उसे वह तो मना करने पर भी काम करने के लिए दौड़ पड़ता है। यदि हम उसे काम नहीं करने देते, तो वह रोने लगता है। किन्तु हम ही उसकी इस स्वस्थ और सहज वृत्ति को अस्वस्थ, रुग्ण अथवा विकृत बना देते हैं। जिस समय हम बालक में सहज रूप से पाई जाने वाली काम करने की, कहा हुआ काम करते रहने की और हमारी बात को सुनने की वृत्ति को रोकते हैं, उसी समय से बालक को रोकने-टोकने का सिलसिला शुरू हो जाता है। एक बार जब हम बालक के सहज उत्साह को रोक देते हैं, तो उसका मन बैठ जाता है। उसको एक आघात पहुँचता है, उसकी दिशा बदल जाती है, उसके कान बन्द हो जाते हैं, उसके अन्तर में हमारी आवाज का पहुँचना बन्द हो जाता है। हमी ने अपने व्यवहार से उसके कानों को बहरा बनाया, और फिर हमीं

शिकायत करने लगे कि बालक हमारी बात सुनता नहीं है ! आगे हम ही इसके उपाय की खोज में निकल पड़े ! हमीने बालक को बीमार बनाया और बीमारी की दवा देनी शुरू कर दी। लेकिन असल सवाल तो यह है कि जो बीमारी शुरू हो गई है, उसका क्या किया जाए ? जैसे-जैसे टोका टोकी की अपनी खुराक हम बढ़ाते जाते हैं, वैसे-वैसे बालक अधिक-से-अधिक संवेदन-शून्य बनता जाता है। हमारी बात न सुनने और न मानने का मानसिक रोग इसी कारण उसके मन मे अपनी जड़ जमा लेता है। इसमें सन्देह नही कि हर बढ़ी हुई खुराक के साथ बालक कुछ समय तक हमारी बात सुनेगा, हमारा कहा मानेगा। किन्तु जिस तरह दूसरी उत्तेजक औषधियों के कारण अन्त मे शरीर शिथिल होने लगता है, उसी तरह गालियों आदि से या टोका टोकी से उत्तेजित हुआ मन फिर शिथिल बन जाता है, और अधिक शिथिल या मन्द होने पर वह अधिक टोका टोकी की अपेक्षा रखने लगता है। आखिर एक समय ऐसा भी आता है कि बालक सदा के लिए हमारे हाथ के बाहर चला जाता है फिर तो उस पर किसी भी शब्द का कोई प्रभाव नही पड़ता—ठीक उसी तरह जिस तरह अन्त मे कोई भी दवा रोगी के पेट मे टिक ही नहीं पाती !

टोका टोकी के इन उत्तेजकों से हम अपने बालक को सदा दूर ही रखें। हम उसको दवा के बदले हवा दें। जब वह सहज भाव से हमारा कहा करने को और हमारी बात सुनने को तैयार होता है, उस समय हम वैसा करने की उसकी रुचि, वृत्ति और शक्ति को बढ़ावा दें, और जब वैसा करने की उसकी इच्छा न जागे, तो ऐसे समय हम उसको अपने दबाव से मुक्त ही रखें।

दिला दो !

विमला रोती-रोती माँ के पास पहुँची और बोली : "माँ ! मुझको कमला से कैंची दिला दो !"

विमला छोटी थी। कमला बड़ी थी। कमला कैंची से कागज कोर रही थी। विमला भी कागज कोरना चाहती थी।

माँ ने ऊँची आवाज में कहा ; "सुनो कमला ! विमला को कैंची दे दो।"

कमला बोली : "माँ, मुझको कागज कोरने हैं। मुझको तरह-तरह की आकृतियाँ बनानी हैं।"

माँ ने कहा : "तुम देखती नहीं हो कि विमला रो रही है ? तुम इतनी बड़ी हो गई हो। अपनी छोटी बहन को रुलाने में तुमको शरम नहीं आती ?"

कमला को कैंची देनी पड़ती है। विमला कैंची लेकर कागज काटने बैठ जाती है।

कमला चित्र बना रही है। पानी के रंगोंवाली पेटी और पींछी उसके सामने पड़ी है। विमला कमला के पास जाकर बैठती है, और कहती है : 'मुझको पींछी दो।'

कमला ने कहा : "मैं नहीं दूँगी। मुझको चित्र बनाने हैं। तुम इस पेटी का उपयोग करना जानती नहीं हो।"

विमला बोली : "मैं माँ से कहकर यह पेटी तुमसे ले लूँगी। तुम नहीं दोगी, तो मैं माँ से कहूँगी। फिर देखना, माँ दिलाती हैं या नहीं ?"

विमला ने माँ से कहा : "माँ ! कमला से कहकर रंगों की यह पेटी और पींछी मुझको दिला दो न ! मैं चित्र बनाना चाहती हूँ।"

माँ बोली : "तुम तो अभी छोटी हो। भला, तुम चित्र कैसे बनाओगी ?"

विमला ने कहा : "ऊँ-ऊँ-ऊँ ! मुझको चित्र बनाने हैं। जब दीदी चित्र बनाती हैं, तो मैं क्यों न बनाऊँ ? मुझको पेटी और पीं'छी दिला दो।"

माँ बोली : "बेटी कमला ! इस विमला को तुम थोड़ी देर के लिए अपनी पेटी और पीं'छी दे दो न ?' यह भी चित्र बनाना चाहती है।"

कमला ने कहा : "लेकिन अम्माजी ! यह विमला तो पेटी के सारे रंग खराब कर देगी। यह चित्र बनाना जानती कहाँ है ? तुम कहो, तो मैं इसको अपने पास बैठा लूं, और अपने ये चित्र इसको दिखाऊँ।"

माँ बोली : "बेटी कमला! थोड़ी देर के लिए इसको दे दो न ? इसका रोना-मचलना बन्द तो हो।"

कमला ने कसैला मुँह बनाकर अपनी पेटी और पीं'छी विमला को दे दी।

विमला ने कहा : "लो, देखो, तुम तो नहीं देना चाहती थी न ? अम्माजी से कहकर मैंने ले तो लिए न ?"

जब छोटे बच्चों को बड़े बच्चों से कुछ लेना होता है, तो वे अपनी माँ की शरण में जाते हैं। माँ छोटे बच्चे का पक्ष लेती है। इस विचार से कि बालक छोटा है, माँ या तो उसको अधिक चाहती है, या बच्चे का रोना उससे सहा नहीं जाता, या वह उसका मचलना देख नहीं पाती, या कुछ माँगने के लिए आए हुए बालक को वह अपने पास से हटाना चाहती है, या यह मानकर कि छोटे बालक को तो हमेशा खुश ही रहना चाहिए, बड़े लोग भले ही थोड़ा सहन कर लिया करें, पर छोटे बच्चों की माँग या इच्छा तो पूरी करनी ही चाहिए, माँ ऐसा व्यवहार करती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार अलग-अलग कारणों से माँ छोटे बच्चे को हमेशा कुछ-न-कुछ दिलाती रहती है। कोई माँ अपने बड़े बच्चे को हुक्म देकर, उस पर थोड़ा जुल्म करके, उसकी पिटाई कर के भी छोटे बालक को उसकी मनचाही चीज दिला देती है, तो कोई माँ अपने बड़े बालक को समझाकर और फुसलाकर या कोई लालच देकर छोटे को

उसको चाही चीज दिलवा देती है। कोई माँ कभी कोई चीज दिला देती है, और कभी दिलाने से इनकार भी कर देती है। लेकिन जब छोटा बालक जिद् पकड़ता है, तो वह उसको फिर दिला भी देती है। कोई माँ बड़े बालक की आवश्यकता को उचित मानकर पहले तो दिलाने से इनकार करती है, लेकिन बाद में छोटे बालक की जिद्, रुलाई या दुःख से विवश होकर उसको उसकी मनचाही चीज दिला देती है।

इस तरह अपनी माँ की मदद से छोटा बच्चा बड़े बच्चे पर बार-बार हावी होता रहता है, और फिर वह बहक जाता है। बस, उसके मन में यह विचार आने की देर भर कि उसको किसी से कुछ ले लेना है। 'दिला दो' के अपने अनुभव के भरोसे वह मान लेता है कि माँ उसको उसकी चाही हुई चीज दिला ही देंगी। शायद माँ उसकी जिद् के लिए उसको मार भी दें, लेकिन अन्त में वे उसको उसकी चीज़ दिला तो देंगी ही! ऐसा बालक 'दिला दो' की बुराई में फँस जाता है। इसी कारण वह एक अत्याचारी बन जाता है। वह दूसरे बालक की जरूरत को देखता नहीं, उसकी बात सुनता नहीं और उस पर विचार करता ही नहीं। दूसरों की भावना का सम्मान करने का विवेक उसमें रहता ही नहीं। एक कमज़ोर सत्ताधारी के हथियार के रूप में रोकर और ऊधम आदि मचाकर वह अपनी विचार-शून्य और विवेकशून्य अथवा कच्चे मनवाली माँ पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। उसका स्वभाव एक सत्ताहीन, पराई ताक़त पर निर्भर करने वाले और निरंकुश व्यक्ति का-सा बन जाता है। 'कमजोर और गुस्सा भारी' वाली कहावत उस पर पूरी तरह लागू होती है।

जो बालक इस 'दिला दो' वाली बात में सफल होता रहता है, वह न केवल अपने विवेक और विचार से हाथ धो बैठता है, बल्कि ख़ुद भी वह गुलाम बन जाता है। वह अपनी पात्रता अथवा योग्यता का विचार नहीं करता। उसके मन में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि वह जिस चीज की माँग कर रहा है, उसके लायक वह ख़ुद है। और जब उसको उसकी चाही चीज नहीं मिलती, तो वह किसी-न-किसी की शरण में जाता है, और शरण देने वाले का दास बनता है।

'दिला दो' के रास्ते पर चलने वाला बालक चाहता है कि दूसरा कोई उसके लिए कुछ कर दिया करे और न करे, तो वह उससे लड़ ले। लेकिन वह यह कभी समझता ही नहीं कि उसको खुद कुछ करना चाहिए या उसके लिए खुद ही लायक बनना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि जब उसको कोई दिला देने वाला नहीं मिलता, अथवा कोई देने वाला नहीं मिलता, तो वह बहुत दुखी हो उठता है, और हैरान-परेशान रहने लगता है।

ऐसा बालक अपनी बड़ी उमर में बहुत दुःख के साथ यह समझ पाता है कि इस दुनिया में लायक आदमी के लिए सब कुछ सुलभ है। तब उसको यह बात अखरने लगती है कि 'दिलादो' की अपनी आदत के कारण वह तैयार भोजन तो खाना सीख गया, पर खुद कुछ पाने और कमाने लायक बन नहीं सका। 'दिला दो' की अपनी इस आदत के कारण वह झूठे अभिमान वाला और दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला तो बन गया, पर इसके कारण वह स्वाभिमान से कोसों दूर चला गया। माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बालक को 'दिलादो' की इस लत से बचा लें। हम जिनको दिला देते हैं, वे स्वार्थी और निरकुश बन जाते है, और जिन से दिलाते है, उनके साथ अन्याय होता रहता है। इस गलत व्यवहार के कारण भाई-भाई के या भाई-बहन के बीच मेल-मिलाप के बदले दुश्मनी खड़ी हो जाती है। एक सोचता है कि माँ उसको चाहती हैं, और दूसरा मानता है कि उसकी माँ बुरी है। वे उसको हैरान करती रहती हैं। वे उसकी ही चीज छीनती रहती हैं। चाही हुई चीज दिला देने के बाद बालक आपस में लड़ने लगते है और एक-दूसरे से कहते हैं : 'तुम मुझ को देना नहीं चाहते थे न लो, देखो, मैंने तो ले ही लिया!' सुनते ही दूसरा बालक चिढ़कर या तो मारने दौड़ता है, या दुखी बनकर गालियाँ देने लगता है, या रोना शुरू कर देता है। इस सबका नतीजा यह होता है कि हम अपने ही बालकों के बीच दुश्मनी पैदा कर देते है।

माता-पिता के नाते इस विषय मे हमको बहुत सावधनी बरतनी चाहिए। जब घर मे दो-चार बालक होते हैं, तो उनमें देखा देखी की वृत्ति सहज होती है। किन्तु हमेशा देखा देखी से काम करना लाभ दायक नहीं

होता। जब कोई बालक अपनी योग्यता से आगे बढ़ कर कोई काम करना चाहता है, तो उससे उसको नुकसान ही होता है। अपनी कुछ योग्यता के साथ किया गया अनुकरण तो सीखने के प्रयत्न का रूप ले लेता है। बड़े बच्चे जो काम करते हैं, जब छोटे बच्चे उनको कर नहीं सकते, उनमें उनको करने की शक्ति आ ही नहीं सकती ऐसी हालत में भी जब वे वैसे काम करना चाहते हैं, तब उन कामों के लिए हम उनको बड़े बच्चों की कोई चीज कभी दिलाएँ ही नहीं। या तो हम उनको बड़े बच्चों का काम देखने के लिए उनके पास बैठने दें, या उनको उनके काम में सहायक बना दें। जैसे, यदि बड़े बच्चे चित्र बना रहे हों, तो छोटे बच्चे पानी लाने या पीछी धो देने का काम संभाल लें, अथवा उस काम के बदले वैसा ही दूसरा कोई काम उनको दे दें। किसी भी स्थिति में दूसरे की कोई चीज उनको कभी दिलाएँ नहीं।

जब हमको लगे कि बालक जो चीज चाहता है, वह उसके लिए जरूरी है, तो भी बालक के चाहने-भर से हम उसको वह चीज दिला न दें। बालक को अपनी चाही चीज के मिल जाने से जो लाभ होता है, उसकी तुलना में दिलवा देने की आदत का पड़ना बालक के लिए अधिक हानिकारक है। बालक को वैसी दूसरी कोई चीज दी जा सकती हो, तो भले दे दी जाए, नहीं तो उससे कहा जाए कि अपनी बारी आने तक वह बाट देखे। हम ढेरों चीजें चाह सकते हैं, लेकिन जीवन का व्यवहार ही ऐसा है कि अपनी मनचाही चीजें हमको तुरन्त ही मिल नहीं सकतीं। अपनी इसी उमर में बालक को इस साधारण नियम की जानकारी हो जाए, तो अच्छा ही हो। यदि हम बालक को दूसरी कोई चीज दे न सकते हो, अथवा बालक जो चाहता है, वह उस चीज को पाने योग्य नहीं है, तो भले ही हम उसको विवशभाव से रोने दें, लेकिन दूसरे से उसकी चाही चीज तो उसको हरगिज न दिलाएँ।

दूसरे से उसकी चीज दिला देना हमारे लिए आसान होता है। बड़े बालक को हुक्म दिया जा सकता है। उसको सरलता से समझाया भी जा सकता है। अथवा अपनी मनमानी करने के लिए उसके साथ अत्याचार भी किया जा सकता है। इन कारणों से 'दिला देने' के लोभ में पड़ कर हम माँगने

वाले बालक के लिए सच्चा रास्ता खोजना पसन्द नहीं करते। उसके लिए जरूरी मेहनत नहीं करते। किन्तु ऐसा करने से जहाँ छोटा बालक कुछ समय के लिए खुश होकर हम पर प्रसन्न हो जाता है, वहीं, उसी समय, बड़ा बालक हम पर से अपना विश्वास और प्रेम दोनों खो देता है। 'दिला देने' की जो शक्ति हम में है, उसका उपयोग करने में शाहीपन है, तो उसका रास्ता खोजने में सयानापन है।

फिर भी अकसर ऐसे नाजुक मौके आ खड़े होते है कि जब हमको न तो छोटे बच्चे की माँग को नामंजूर करना मुनासिब लगता है, और न बड़े बच्चे से उसकी कोई चीज ले लेना न्यायोचित मालूम होता है। तिस, पर भी हम चाहते तो यही हैं कि दोनो बच्चो के मन खुश रहें। दोनो की इच्छाएँ पूरी हों। ऐसी स्थिति मे हम उनको परस्पर सहयोग करने की ऐसी युक्ति सुझा दें कि दो में से किसी के भी मन पर यह छाप न पड़े कि उसको कोई चीज दिला दी गई है या उससे कोई चीज ले ली गई है। दोनों को मानसिक सन्तोष मिलना चाहिए। यह काम या तो दोनों को किसी तीसरे काम में लगा देने से हो सकता है, अथवा दोनो को उसी काम में से कोई नया काम दे देने से हो सकता है।

बालक के मन में हम यह विचार पैदा न होने दें कि क्योंकि हम बड़े हैं, इसलिए हम चीजें दिला सकते हैं और अपना मनचाहा न्याय कर सकते हैं। इससे अच्छा तो यह है कि जहाँ हमारा बस न चले, वहाँ हम बालकों से कह दें : 'जाओ, तुम को जो ठीक लगे, सो तुम करो। मैं इस बारे में तुमसे कुछ नहीं कहूँगा।' उस हालत में भले ही दोनो आपस मे लड़-झगड़ कर तय करें कि किसको क्या लेना है और क्या देना है! शायद इसमें सही न्याय न हो, फिर भी इसमें हमारे पक्षपात पूर्ण न्याय की कोई सम्भावना रहेगी ही नहीं! अकसर देखा गया है कि जब हम बालको को उनके अपने झगड़े आपस मे ही निपटा लेने की स्वतंत्रता दे देते है, तो वे आपस मे टकराकर जल्दी ही किसी ठीक परिणाम पर पहुँच जाते हैं। इसके विपरीत, जब हम उनके बीच में पड़ते हैं, तो बालकों मे असन्तोष उत्पन्न होता है और वे एक-

दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। अच्छा यही है कि आपस में टकराकर वे एक-दूसरे के मित्र बनें और इस बात को स्वयं समझें कि वे अपनी इच्छा और मर्यादा को कैसे सँभालें।

संक्षेप में, दिला देने की रीति उचित नहीं लगती इसलिए हम उसको छोड़ ही दें।

गोद पसन्द बालक

घर मे बातें चल रही थी । चम्पा की माँ ने पूछा : 'इन्दुबहन, यह रमा ब छोटी थी, तो यह 'दोद' यानी गोद गोद कहा करती थी । गंगा की भी ही आदत रही । नटवर भी यही कहता रहा । लेकिन अकेली यह चम्पा ही ती है, जिसने कभी गोद की बात नही कही । उलटे, जब हम इसको गोद मे ठाते हैं, तो अपने पैर चलाकर यह कहती है : 'मुझको नीचे उतलना है, झको नीचे उतलना है ।' रवि जब छोटा था, तो उसको भी गोद मे चढ़ना सन्द नही था । भला, इसका कारण क्या है ?'

कुछ देर तक सोचने के बाद इन्दुबहन ने कहा : 'चम्पा की माँ, एक ारण तो स्पष्ट ही है । अपने बालको के बारे में तो मुझको यह एक ही कारण ामझ मे आ रहा है । दूसरो के अनुभव जानने पर बात अधिक चौकसाई के ाथ कही जा सकती है ।'

चम्पा की माँ . 'कहिए, क्या कारण है ?'

इन्दु : 'मुझको तो इसमे नौकर ही कारण-रूप मालूम होते है । जिन देनो रवि छोटा था, हमारे घर में कोई चपरासी नही था । जब हम उसको घुमाने ले जाते थे, तो वहाँ भी वह अपने पैर हिलाकर नीचे उतर जाता था, और हम उसको पैदल चलने देते थे । उन दिनो हमारे पास काम भी इतना नहीं था कि हमको घर लौटने की जल्दी होती, और इस कारण हम उसके पीछे-पीछे चल न पाती । रवि हमारे परिवार का पहला बालक था, इसलिए वह हम सबका बहुत लाडला भी था । उन दिनों हम अपने बालको के लालन-पालन के बारे मे अधिक समझती नही थीं, पर, रवि की छोटी-छोटी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं को देखने मे हमको बहुत मजा आता था । वह अपने नन्हे-नन्हें

पैर जमाता हुआ आगे-आगे चलता था, और हम उसके पीछे-पीछे चला करते थे। कहीं वह चींटियों को देखने के लिए खड़ा रह जाता था, तो हम भी उसके पीछे खड़े हो जाते थे। मोर को देखने के लिए जब वह तालाब की पाल पर बैठ जाता, तो हम भी उसके पास ही बैठ जाते थे। उसको गोद में उठाने की जरूरत नहीं थी, और हम उसको उठाते भी नहीं थे। यही कारण है कि वह गोद-पसन्द बना नहीं। लेकिन रमा के जन्म के समय तो घर में नौकर आ चुका था। जब दूसरों के बच्चों को उनके नौकर गोद में उठाते, और वे उनको घुमाने ले जाते, तो उनको वैसा करते देखकर तुम्हारे मन में भी यह मोह जागा कि अपने बालक को अपने पैरों न चलने दिया जाए। तुमने इस बात में अपनी शान और शोभा मानी कि नौकर तुम्हारे बालक को अपनी गोद में उठाकर तुम्हारे पीछे-पीछे चले। तुमने मान लिया था कि इससे बच्चा भी खुश रहेगा। नौकर के कारण मिले अपने बड़प्पन का भूत तुम्हारे मन पर सवार हो चुका था। हमने अपनी आँखों देखा है कि रमा को खुद चलने का कितना ज्यादा शौक था। घर के पास वाली सीढ़ियों पर वह कितनी बार चढ़ती और उतरती रहती थी? लेकिन जब नौकर ने उसको अपनी गोद में उठाना शुरू किया, तो गोद में चढ़ने वाले उसके पैर हरामखोर बन गए। उसने अपने पैरों चलने का आनन्द और शक्ति दोनों गँवा दिए। उसके पैरों के तलुए मुलायम बन गए। उसको भी इस बात का अन्दाज हो गया कि नौकर की गोद में चढ़ने में कोई बड़प्पन है। इसके कारण तन के साथ उसका मन भी हरामी बन गया। बाद में तो घर में रहते हुए भी वह कहती : 'गोद में लो, गोद में लो।' उसकी इस आदत को छुड़ाने में उसको कितनी बार रोना पड़ता था? और यह काम हमारे लिए भी कितना कठिन हो गया था?'

चम्पा की माँ : 'बहुत बात तो सच है।'

इन्दु : 'हमको एक बार का अनुभव हो चुका था, फिर भी गंगा और नटवर तो वैसे ही गोद-पसन्द बन चुके थे। रमा के मामले में हमको इससे होने वाली हानि का थोड़ा बहुत पता तो चल गया था, फिर भी अपने पड़ोसियों की देखा देखी हमारे घर में भी नौकरों की शरण ज्यों-की-त्यों बनी रही।

हम पर काम-काज का कुछ बोझ अधिक बढ़ा। हमने माना कि अगर नौकर बालकों को सँभाल लेंगे, तो हम अपना काम कुछ अधिक और अच्छा कर सकेंगी। इस विचार से हमने गंगा और नटवर को नौकरों के हाथों में अधिक रहने दिया। नौकरों को तो अपना सारा काम समय पर पूरा करना होता ही है। जब ये बच्चों का मन देखकर उनके पीछे-पीछे चलते हैं, तो हम ही उनको कहते हैं : 'इनके पीछे तुम अपना समय क्यों बरबाद कर रहे हो?' ऐसी हालत में नौकर को तो बालक को अपनी गोद में लिए-लिए ही सारे काम करने होते हैं। इस कारण बालक को एक गलत आदत पड़ जाती है, और बालक इसी को अपना एक वैभव मानने लगता है। इस तरह हमारे ये बालक भी इस वैभव के दास बने। ऐसी स्थिति में यदि नौकर उनको अपनी गोद में न उठाएँ, तो सिवाय रोने के वे और कर ही क्या सकते हैं? फिर अपने बालक का रोना सुनकर हम नौकर पर नाराज होते ही हैं। इस तरह हमारे बालक गोद-पसन्द बन जाते हैं। हमारे इन बालकों का लालन-पालन भी इसी रीति से हुआ था, और इसी के फलस्वरूप ये गुलाम बने थे।'

चम्पा की माँ : 'इन्दुबहन, बात तो सच ही है। और असल में हुआ भी यही था।'

इन्दु : 'इसके बाद हमको नौकरों से छुट्टी मिली, और नौकर हमारे बालकों से अलग हुए। आज चम्पा को गोद में उठाने वाला कोई है नहीं। हमने भी बचपन से उसको जहाँ, जितना चलना हो, चलने ही दिया है, इसलिए वह चलने की शौकीन बन गई है। दूसरे बालकों को गोद में चढ़ा देखकर चम्पा कभी-कभी रूठती और मचलती है, पर जब हम उसको गोद में उठाते नहीं हैं, तो थोड़ी देर तक मचलने के बाद वह खुद चुप हो जाती है। कभी-कभी तो जब कोई उसको अपनी गोद में उठा लेते हैं, तो वह 'उतारो', 'उतारो' की पुकार मचाकर अपने हाथ-पैर हिलाने लगती है। अकसर जब जल्दी के कारण हमको तेज गति से चलना होता है, तो हम उसको गोद में उठाने से पहले सारी बात समझा देते हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में गोद में सवार होना उसको बन्धन-रूप नहीं लगता। चम्पा तो गोद में चढ़ने की आदत से बच गई है। क्योंकि अब अनुभव से हम सब कुछ सीख चुके हैं, और

घर में नौकर भी रहा नहीं है। अब तो नौकर के आने पर भी हम चम्पा को उसकी गोद में कभी चढ़ने ही नहीं देंगे। बचपन में बालक चलने की हलचल करके मन को आनन्द के साथ-साथ अपने शरीर को व्यायाम का लाभ देता है। अपने जिन मजबूत पैरों से हम इतने चल-फिर सकते हैं, उन पैरों की बचपन में इसकी खासी तैयारी करनी होती है, और यह तैयारी तो चलकर ही की जा सकती है। इसके लिए बालक को चलने की पूरी स्वतंत्रता चाहिए। लम्बी-चौड़ी जगह भी चाहिए। जहाँ-जहाँ माता पिता बालकों को खुद चलने देने के बदले उनको गोद में लेकर घूमते हैं, और इसको बालक के प्रति अपना प्रेम समझते हैं, वहाँ-वहाँ बालक को इससे नुकसान ही होता है। किसी विशेष निमित्त से, जैसे, बीमारी की हालत में, या स्टेशन पहुँचने की जल्दी के कारण बालक को गोद में उठा लेने की बात एक अलग बात है।'

चम्पा की माँ : 'इन्दुबहन, आप सच ही कह रही हैं।'

अन्धविश्वास की शिक्षा

घर के छप्पर पर बैठा पण्डुक बोल रहा है।

माँ कहती हैं : 'सुनते हो ? हमारे छप्पर पर पण्डुक बोल रहा है। रोज रोज पण्डुक का बोलना अच्छा नहीं होता।'

पिताजी पत्थर मार कर पण्डुक को उड़ा देते हैं। छोटा बच्चा देखता रहता है।

गाँव से लौटकर पिताजी कहते हैं : 'बस एक चरम धक्का ही लगा। मैं जानता ही था कि काम बनेगा नहीं, क्योंकि सामने एक विधवा मिल गई थी।'

रात पड़ी। खूसट बोलने लगा। माँ बोली : 'अररर ! यह खूसट तो न जाने क्या बोल रहा है। पता नहीं, कल का दिन कैसा बीतेगा ? लगता है, यह खूसट तो हमारे पीछे ही पड़ गया है।'

कुत्तों को भगाती हुई पड़ोसिन कह रही है : 'अरे, इन कुत्तों को तो देखो। ये किस बुरी तरह रो रहे हैं। जरूर ही कोई अनहोनी होने वाली है।'

बुआजी बोली : 'आज तो यह तवा हँसा। जरूर ही कोई मेहमान आएँगे।'

रात ब्यालू के बाद गली की बहनें इकट्ठा होती हैं। वे नितनई गप हाँकती रहती हैं। 'ना, मैया ! जहाँ ऐसे घेरे बने रहते हैं, उनमें तो बालकों को अपने पैर नहीं रखने देने चाहिए।' 'पता नहीं अब मेरा यह घर कैसा हो गया है। इसमें किसी का शरीर स्वस्थ रहता ही नहीं है।' इस केसर बहू की नजर तो बहुत ही कड़ुई है। आज मैं अपने घर में बैठी खीर खा रही थी,

तभी वह अचानक आ पहुँची। बोली : 'बहन ! खीर तो बहुत अच्छी बनी है।' बस, इतना कह कर वह तो चली गई, पर उस रांड की नजर को क्या कहा जाए ? मैं तो उलटियाँ कर-करके हैरान हो गई।'

घर में माँ-बाप अपने बच्चों से कहते हैं, 'देखो, इस समय गधे का नाम मत लो।' 'अरे आज सवेरे-सवेरे तुमने इस निपानिया गाँव का नाम कहाँ से लिया ! अब शाम तक तुम को रोटी नहीं मिलेगी।' 'सुनो रमेश ! शाम के समय उत्तर की तरफ पाँव रख कर क्यों सोए हो ? उठो, खड़े हो जाओ।'

ये सब निरे अन्धविश्वास हैं। कोरमकोर वहम हैं। अपने आस-पास और अपने बीच रहने वाले बालकों को हम हर घड़ी इन वहमों का ही पान कराते रहते हैं। ये वहम हमको अपने माता-पिता से मिले हैं। हम इन्हीं अन्धविश्वासों अथवा वहमों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जाने-अनजाने, अपने बालकों में सींचते रहते हैं। हमने अपने माता-पिता से पूछा : 'अगर कोई साँप हमारा रास्ता काट कर चला जाए तो उससे हमको नुकसान क्यों होता है ?' हमको जवाब मिला : 'तुम इसमें क्या समझो ? अपने बड़े-बूढ़े जो कह गए सो यों ही नहीं कह गए !' बालक हमसे पूछता है : 'पैर हिलाने से माँ क्यों मर जाती हैं ?' जवाब में हम उससे कहते हैं : 'चुप रहो। बहुत अकल मत बघारो। तुम इतना भी नहीं समझते कि पैर नहीं हिलाने चाहिए !'

इस सबका नतीजा यह निकला कि हम अन्धविश्वासी बन गए। आगे हमारे बालक भी अन्धविश्वासी बनेंगे और उनके बालक भी अन्धविश्वासी ही बनेंगे। यों, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अन्धविश्वास फैलता रहेगा।

अन्धविश्वासी आदमी डरपोक होता है। 'दाहिनी आँख फड़की ! हे भगवान ! पता नहीं, अब क्या होगा ?' 'देखो यह घी फर्श पर फैल गया ! पता नहीं अब क्या मुसीबत खड़ी होगी ?' 'सुनो, सियार रो रहे हैं कहीं आज गाँव में सेंध तो नहीं न लगेगी ?' 'अगर मैं रात में दही जमाऊँगी तो कहीं मेरी गाय सूख तो नहीं न जाएगी ?' ये सारे अन्धविश्वास मनुष्य के विचारों में घुले पड़े हैं।

मन में अन्धविश्वास की बात आते ही अन्धविश्वासी मन डर जाता है। किसी अमंगल की चिन्ता से वह कांप उठता है। भयभीत होकर पसीने से नहा लेता है। कुछ ही क्षणों की अपनी कल्पना में वह न जाने कितने दुखों का अनुभव कर लेता है।

अन्धविश्वासी वह है जो मानकर चलता है। बिना प्रमाण मांगे ही हर किसी बात को मान लेता है। अन्धविश्वासी को अपने अन्धविश्वासों का त्याग करना चाहिए। जैसे, हम कहते हैं : 'याद रखो, अगर तुमने हनुमान जी को फूलों की माला नहीं पहनाई, तो वे तुम पर नाराज हो जाएँगे' 'तुम भूतनी को लपसी चढ़ाने की मन्नत नहीं मानोगी, तो भूतनी तुमको दुख देगी।' 'मैंने अपना चूल्हा ठण्डा नहीं किया था, इसलिए शीतला माता मुझ पर नाराज हो गई, और मेरे बेटे को चेचक निकल आई!' अन्धविश्वासी आदमी इन सब बातों को सच मानेगा और कहेगा : 'हाँ, ये सब तो सच्ची बातें हैं।'

अन्धविश्वासी मनुष्य का मतलब है, निर्मल तर्क बुद्धि को न मानने वाला आदमी। अन्धविश्वासी आदमी कभी यह पूछता ही नहीं कि ऐसा क्यों होता है? वह कभी यह कहता ही नहीं कि मैं तो यह सब तभी मानूंगा, जब मुझ को इनका भरोसा हो जाएगा।

अविश्वासी मनुष्य यानी अशास्त्रीय मनवाला मनुष्य। यह कभी यह कहता ही नहीं कि 'आप कुछ भी क्यों न कहें, मुझको तो खुद ही इसकी छान-बीन कर लेनी होगी। जब तक बात मेरी समझ मे नहीं आएगी, तब तक मैं तो तटस्थ रहना ही पसन्द करूंगा।' अन्धविश्वासी आदमी तो बिना जांच-पड़ताल के ही जादूगर के खेलों मे मंत्र-तंत्र के दर्शन करता है, जबकि अन्धविश्वास से मुक्त आदमी समझ लेता है कि ये सब तो दवा के जोर से या युक्ति-प्रयुक्ति से या हाथ की चालाकी से होने वाले काम है।

अन्धविश्वासी मन यानी अन्ध श्रद्धावाला मन। इसी कारण अन्धविश्वासी आदमी शास्त्र-वचन को अटल वचन मानता है। वह देवों और परियों की बातों को न माननेवालों को नास्तिक समझता है, और भूत-प्रेत आदि की कहानियों का सही भेद जानने से इनकार करता है।

हम लोग अधिकतर अन्धविश्वासी जीवन जी रहे हैं। आजकल के धर्म का एक बड़ा हिस्सा अन्धविश्वास से प्रभावित है। पाखंडी लोग, धर्म के नाम पर, अन्धविश्वासी लोगों से अनुचित लाभ उठाते रहते हैं।

हमने अपने बड़ो-बूढों से कारण पूछे। हमको जवाब नहीं मिले। अब हम स्वयं ही अपने अनेकानेक अन्धविश्वासों के कारणों को जानना चाहेंगे? भले, अपने लिए न सही, पर क्या अपने बालकों के लिए हम कारणों की खोज करेंगे? अपने बालकों के प्रश्नों के उत्तर में क्या हम उनको कारण बताने का प्रयत्न करेंगे?

पहले हम स्वयं इस बात का भरोसा कर लें कि सारे अन्धविश्वास एकदम मिथ्या है। निपालिया एक गाँव है। रोज उसका नाम लेते रहने से हमको विश्वास हो जाएगा कि उसका नाम लेने से किसी का कोई नुकसान नहीं होता। खूसट एक पक्षी है। वह अपने लिए ही बोलता है। आँख फड़कने का कारण शरीर की कोई गड़बड़ी हो सकती है। यदि इस तरह हम अपने अन्धविश्वासों की छान-बीन करेंगे तो हमको अपनी नासमझी पर खुद ही हँसी आएगी।

बालक हमसे बहुत-कुछ सीखते हैं। हम उनको जो बातें सिखाते हैं, उनकी तुलना में हम जिस तरह अपना जीवन बिताते हैं, उससे वे बहुत अधिक सीखते हैं। मुझमें जो अन्धविश्वास आज मौजूद हैं, वे मुझको अपने विद्यालय से नहीं मिले। वे तो मेरे घर से, मेरे माता-पिता के अपने अन्धविश्वासों से, मिले हैं। क्या हम अपने बालकों को अन्धविश्वास की शिक्षा देना चाहते हैं? क्या हम उनको डरपोक बनाना चाहते हैं? क्या हम उनको भोले भाव से सब कुछ सही मान लेने वाला बनाना चाहते हैं? क्या हम उनको शास्त्रीय दृष्टि से रहित और तर्क रहित बुद्धि वाला बनाना चाहते हैं?

यदि हमको यह सब नहीं करना है, तो हम स्वयं किसी भी अन्धविश्वास को न मानें, और न किसी को अन्धविश्वासी बनाएँ।

बालक डरपोक क्यों बनता है ?

'कुसुम बहन ! जरा दूर जाकर पेशाब करो, तो अच्छा रहे !'

'नहीं,नहीं ! मैं दूर जाऊँ, तो बावाजी मुझको ले न जाएँ ! माँ कहती थी कि दूर जाने पर बाबाजी ले जाते हैं। दूर जाना ठीक नहीं।'

सुनकर मैं तो सन्न ही रह गया। पता नहीं, माँ-बाप अपने बालकों को इस तरह क्यों डराते हैं ?

लेकिन बालकों को डराना तो एक मामूली बात बन चुकी है। माँ-बाप समझते ही नहीं कि इससे कोई हानि भी होती है।

बालक ने बरफ खाने की ज़िद शुरू की। किसी भी उपाय से उसकी ज़िद खतम नहीं हुई। माँ ने कहा : 'बेटे तुम चुप होते हो या नहीं ? तुम चुप न हुए, तो मैं तुम को चीटों की कोठी मे डाल दूँगी ! नहीं तो इस अँधेरी कोठरी में बन्द कर दूँगी। मैं तुम को उस काले नाले के पास छोड़ आऊँगी। इतने पर भी तुम चुप न हुए, तो मैं सिपाही को बुला लूँगी।'

माँ ने अपनी मुन्नी को गहने पहनाए। मुन्नी को खेलने जाना है। काका कहते हैं : 'मुन्नी ! खबरदार ! तुम बाहर मत जाना। बाहर जाओगी, तो बाबाजी तुमको उठा ले जाएँगे। तुमने उस काबुली को तो देखा है न ? वह छोटे बच्चों को अपने बड़े पाजामे में छिपाकर ले जाता है।'

न जाने किसी कारण से छोटा बच्चा रात में रोना शुरू कर देता है। माँ थप्पड़ मार कर उसको डराती और कहती है : 'बेटे तुम सोते क्यों नहीं हो ? सुनो, वह सियार बोल रहा है। मैं तुमको सियार के सामने डाल दूँगी। सियार तुमको खा जाएगा !'

●

रात मे बड़े बच्चे खेलने निकलते हैं। दादी माँ कहती हैं: 'बच्चो! सुनो। उस पीपल के पास मत जाना। वहाँ एक भूत रहता है। वह तुमको खा जाएगा।'

बाप ने अपने बेटे को पीटा है। बेटे को रोते देखकर बुआजी कहती हैं: 'लल्लू! तुम मुह फाड़कर रो रहे हो। अभी बिच्छू आकर तुम्हारे खुले मुँह में डंक मार देगा, समझे!'

बारिश आई! लड़का नहाने दौड़ा। दीदी बोली: 'बाबूजी को आने दो। तुम्हारी हड्डी-पसली दुरुस्त करवा दूँगी!'

छोटे काका कहते हैं: 'सुनो, रमेश! अपना सबक याद करो। नहीं तो मैं तुमको तुम्हारे शिक्षक से पिटवाऊँगा।'

दादाजी कहते हैं: 'सुनो, उस कुएँ के पास मत जाना। अगर गए, तो मर ही जाओगे!'

हरदास बाबा कहते हैं: 'अरे, तुम इस कुत्ते के साथ खेल रहे हो? कुत्ता तुमको काट लेगा, समझे!'

माँ-बाप कहते हैं: 'बेटे, तुम झूठ बोलोगे, तो नरक में पड़ोगे और तुम कोढ़ी बन जाओगे!'

माँ कहती है: 'अगर हम रसोई बनाते-बनाते खाते है, तो अगले जनम में खमगादड़ बन जाते हैं।'

दादाजी कहते है: 'बेटे, इन हनुमान जी के पैर छुओ। नहीं तो वे तुम पर नाराज हो जाएँगे!'

पिताजी कहते है: बच्चो! गांधीजी की जय मत बोलो। वन्दे मातरम् बोलने पर सरकार हमको जेल मे बन्द कर देती है!'

कितने प्रकार के और कैसे-कैसे डर! बाबाजी का डर, भूत-प्रेत का डर, बाघ और भेड़िये का डर, सिपाही और शिक्षक का डर, सरकार का डर, चारों तरफ डर, डर, और डर ही डर! नतीजा यह होता है कि इस डर के कारण बालक निरा नामर्द, कायर, डरपोक, नादान और नासमझ बन जाता है।

'तुम दूर जाओगे, तो बाघ तुमको खा जाएगा।' बचपन में यह डर शुरू होता है। बड़ा होने पर बालक अपने शिक्षक से डरता है। जो शिक्षक से डरने लगता है, वह सिपाही से भी डरता है। जो सिपाही से डरता है, वह सरकार से डरने लगता है। सरकार उसके लिए शेर और बाघ की तरह भयावनी बन जाती है!

बचपन में बालक अँधेरे से डरने लगा। कुछ बड़ा होने पर भूत का डर शुरू हुआ। आगे वह प्रेत से डरने लगा। फिर डाकिन-पिशाचिन का डर लगने लगा। यों होते-होते बालक भगवान से भी डरने लगा। इस तरह डर की एक लम्बी परम्परा शुरू हुई। डर हमारे शरीर को निःसत्व बना देता है। वह मन को निर्बल बनाता है। डरा हुआ बालक अपनी आँखें मूँद लेता है। वह बलहीन बन जाता है। उसकी छाती धड़कने लगती है। उसके शरीर से पसीना छूटने लगता है। वह डर के मारे टट्टी-पेशाब भी कर देता है! डर के हर मौके पर हम बालक के मुँह की तरफ देखेंगे और उसकी छाती पर हाथ रखेंगे, तो हमको डर की भयंकरता का पता चल सकेगा।

२

एक बार मेरे घर के पाट पर बैठा चूहा बोल रहा था 'चूँ चूँ चूँ'। चूहे को चुप करने के लिए मैं एक खिड़की के पास गया, और ज़ोर की आवाज़ के साथ उसको दीवार से टकरा दिया! मानो मैं चूहे का सामना करने निकला होऊँ, ऐसी मुद्रा में मैंने सी सी की आवाज़ के साथ ज़ोर से सीटी बजाई। मेरे हाथ में दो साल की टीकू थी। मेरे जानते इससे पहले वह कभी चूहे की 'चूँ चूँ' आवाज़ से डरी नहीं थी। लेकिन चूहे को भगाते समय मेरा जो स्वरूप बना, जिस ज़ोर के साथ खिड़की टकराई, जैसी गुस्से-भरी आवाज़ में मैंने सीटी बजाई, उसके कारण कुल मिलाकर, दृश्य ऐसा खड़ा हुआ, मानो मैं किसी भारी भय का सामना कर रहा होऊँ। मेरे इस व्यवहार के कारण टीकू के मन पर भय की गहरी छाप पड़ी। जिसके लिए पहले उसके मन में कोई डर कभी रहा नहीं, आज उसी से वह डर गई। उसके चेहरे पर भय के सारे लक्षण प्रकट हो गए। उस समय तो उसकी तरफ मेरा ध्यान अधिक गया

नहीं। किन्तु थोड़ी देर के बाद मैंने देखा कि जिस तरह किसी भय के अवसर पर प्राणी अपनी आँखें बन्द करके और यह सोचकर कि जो होना होगा, सो होता रहेगा, वह औंधे मुँह गो जाता है, उसी तरह धुले हुए कपड़े पहनी टीकू अपनी आँखें मूंद कर और मुँह छिपाकर सोई हुई है। पूछताछ करने से तुरन्त ही पता चला कि वह चूहे से डर रही थी। डर के कारण इतनी खुली जगह में भी वह अपनी आँखें बन्द करके छिप-सी गई थी।

मुझको अपनी गलती का भान हुआ। मैं टीकू को फिर खिड़की के पास ले गया। उसका डर दूर करने के लिए मैंने उससे कहा : 'टीकू ! वह तो एक चूहा था और मैं उसको भगा रहा था।' लेकिन उसका डर दूर नहीं हुआ। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, चूहे को भगाने के मेरे तरीके की वजह से टीकू चूहे से डर गई थी। बाद में दीवार की तरफ देखकर वह 'चूहे' का नाम लेती, और डर जाती। वह पालने में लेटी होती, तो दीवार की तरफ देखकर घबरा उठती। खटिया पर बैठी होती, तो चूहे के डर से वह मेरे पास आ जाती और चुपचाप पड़ी रहती। उसकी आँखें फटी की फटी रह जातीं। वह न हिलती, न डुलती। आखिर जब मैंने उसको विश्वास दिलाया कि चूहा भाग गया है, मैंने उसको निकाल बाहर किया है, अब वह यहाँ है ही नहीं, अब तो वह 'चूं-चूं' भी नहीं बोल रहा है, तभी उसके मन का डर निकला और उसको डर से छुटकारा मिला।

अकसर यह होता है कि जिस विषय में डर का कोई कारण रहता ही नहीं, ऐसे विषय में भी हमारे अपने अटपटे व्यवहार के कारण ही बालक डरना सीख जाता है। घर में कुत्ते को घुमते देखकर अगर माँ या भाई हाथ में जोर से लकड़ी घुमाते हुए कुत्ते को बेधड़क भगा देते हैं, तो बालक भी उसी तरह कुत्ते को भगाना सीख जाता है। लेकिन अगर माँ या भाई कुत्ते को देखकर मारे डर के चीखने-चिल्लाने और भागने लगेंगे, तो बालक भी कुत्ते से डरना सीख जाएगा। अपने घर के बड़ों को अँधेरे में झिझकते देखकर, या 'मुझको तो डर लग रहा है,' कहते सुनकर, या उनको डर के कारण भागते देखकर बालक भी डरना सीखता है। जब घर के बड़े-बूढ़े अपने भयावने चेहरे और

भयभीत आवाज़ के साथ बालकों को भूत-प्रेत की या दूसरी कहानियाँ खुद भी डरते-डरते सुनाते है, तो इससे बालक डरना सीखता ही है।

बालक मे डर स्वभाविक होता है। परवशता और अज्ञान इस डर के कारण होते हैं। इस डर का इलाज करने के बदले, जहाँ सचमुच डर का कोई कारण नही होता, वहाँ हम ही डर कर बालक को डरने वाला बना देते हैं। ऐसा करके हम बालक को नुकसान ही पहुँचाते हैं। बिच्छू के निकलने पर 'बिच्छू! बिच्छू' चिल्ला-कर हम भागें नही, और थर-थर काँपें नहीं, बल्कि फुरती के साथ हाथ मे सँडासी लेकर हम हिम्मत से बिच्छू को पकड़ लेंगे, तो बालक समझ जाएगा कि इसमे डरने की कोई बात है ही नही। सिर्फ़ थोड़ी होशियारी बरतना जरूरी है। जिनसे डरना जरूरी है, ऐसे शेर, बाघ या साँप का सामना भी बिना डरे किस तरह किया जा सकता है, इसकी बातें कहने मे, और ऐसे अवसरो पर अपनी रक्षा का ध्यान रखते हुए निडरता दिखाने से, बालक वास्तविक भय की स्थिति में भी बिना डरे अपनी रक्षा करना सीख सकेगा। राक्षस की बात भी बालक के सामने इस तरह रखी जाए कि यदि हम मे बल हो, तो हम राक्षस को मार सकते है, तो बालक राक्षस के डर से बच सकता है। कहने का मतलब यह है कि जिन प्रसंगों या अवसरों पर सचमुच डरने की कोई बात नही होती, ऐसे अवसरो पर भी, हमारे अपने व्यवहार के कारण ही बालक डरने लगता है। ऐसा न हो, इसके लिए हमको जरूरी सावधानी रखनी चाहिए। इसके अलावा, सुरक्षा की दृष्टि से जहाँ-जहाँ सावधानी बरतना जरूरी है, वहाँ निडर बनकर सावधानी कैसे रखी जा सकती है, इसकी सही जानकारी बालक को दे दी जाए, तो संकट के समय मे डरकर भागने के बदले या भय की शरण मे आने के बदले बालक भय से अपनी रक्षा स्वयं ही कर सकेगा।

भुक्खड़पन

बाल-मन्दिर में कई बालकों के साथ मेरी जान-पहचान हुई। मैंने कुछ बालक ऐसे देखे, जिनको नाश्ते की जरूरत ही नहीं होती। हमारे बुलाने पर भी वे आना पसन्द नहीं करते। वे उन बालकों में तो हैं ही नहीं, जो अलग-अलग कारणों से, जैसे परिचय का अभाव, अज्ञान के कारण उत्पन्न डर, अथवा ध्यान के समय होने वाले अँधेरे से अरुचि, आदि कारणों से भोजन वाले कमरे में जाना पसन्द न करते हों। वे पेट की बीमारी वाले बालकों में से भी नहीं हैं। बीमारी शुरू होने के पहले खाने के प्रति जो अरुचि होने लगती है, उस अरुचि के कारण न खाने वाले बालकों में भी वे नहीं हैं। वे उस श्रेणी के बालक भी नहीं हैं, जिनको उनके घर वालों ने छुआछूत से या खाँसी से बचने के लिए न खाने को कहा हो।

इन बालकों के समान लापरवाह बालक बहुत ही कम पाए जाते हैं। फिर भी उनकी अपनी एक निश्चित बिरादरी होती ही है। इस बिरादरी वाले बच्चों में खाने की तृष्णा नहीं होती, इसीलिए वे खाते नहीं हैं। वे समझते हैं कि उनका पेट भरा हुआ है अथवा वे घर से खाकर ही आए हैं। घर जाकर फिर नाश्ता करना ही है। इसलिए यहाँ का नाश्ता क्यों किया जाए? इस बिरादरी में अकेले धनवानों के ही बालक नहीं हैं। इसमें तो गरीबों के बालक भी होते हैं।

बालकों की एक दूसरी बिरादरी इस मामले में इतनी ज्यादा लापरवाह नहीं होती। इस बिरादरी में आने वाले बच्चे भोजन के समय हाजिर रहते हैं। मंत्र बोल लेने के बाद ही खाते हैं। वे रकाबी उठाकर देख लेते हैं कि आज खाने में क्या बना है। बाद में उनका ध्यान खाने में नहीं रहता। ये

बालक कमरे में चल रही कसरत में, बातचीत में, कहानी में और आदर्श-वाचन आदि कामों में मन लगाकर उनमें रुचि लेते रहते हैं। जब किसी दूसरे खेल में या काम में उनका मन रम चुका होता है, तो वे भोजन की जगह पहुँचने में देर भी कर देते हैं। अगर कभी वे खा नहीं पाते, या उनको खाना मिल नहीं पाता, तो वे उसकी भी चिन्ता नहीं करते। देर हो जाने के डर से वे अपने खेल या काम को झटपट खतम नहीं करते। समय पर हाजिर हो पाए, तो ठीक, खाना खा पाए, तो ठीक, और न खा पाए तो भी ठीक!

इन बालकों की एक बिरादरी ऐसी भी होती है कि जिसे भूख लगती है। भोजन में जिसकी रुचि होती है। समय होने पर उसको भोजन की याद भी आती है। आमतौर पर वह इस बात का ध्यान रखती है कि भोजन का समय न चूके। इस बिरादरी के बालक समय होने पर हाथ-मुँह धोकर दरवाजे पर हाजिर हो जाते हैं। यह जान चुकने पर कि क्या परोसा गया है, भोजन मिलने का विश्वास हो जाने से, वे अपने चलते खेलों में और बातचीत में रमे रहते हैं। इनमें मन न लगने पर वे शोर मचाना शुरू कर देते हैं। उनको अधिक परोसा जाता है, तो वे उसको खुशी-खुशी खा लेते हैं। होड़ बढ़ने पर ज्यादा भी ले लेते हैं। जब कोई बालक 'मुझको' कहता है, तो इस बिरादरी के बालक भी 'मुझको मुझको' कहने लगते हैं। किन्तु जिस दिन उनके भोजन की छुट्टी होती है, उस दिन उनको कोई आघात नहीं पहुँचता। वे खाने के समय के बारे में कभी पूछताछ नहीं करते। वे इस बात की भी कोई खास फिकर नहीं रखते कि भोजन में क्या बना है। मान लीजिए कि उनको भोजन नहीं मिला, तो वे नाराज होंगे, किन्तु दुःख का अनुभव नहीं करेंगे। वे खाना पसन्द करते हैं, पर खाने के पीछे पागल नहीं हैं। अधिक मिलेगा, तो वे भी उसका लाभ उठाएँगे, लेकिन मन में अधिक की आशा रखकर बाद में निराश नहीं होंगे।

इनकी एक और बिरादरी भी है। इस बिरादरी के बालक इस बात की खोज खास तौर पर करते हैं कि बाल-मन्दिर के नाश्ते में क्या चीज आई है या बनी है? वे बीच-बीच में नाश्ते के सामान वाली जगह तक पहुँचकर वहाँ

अपनी कृपा दृष्टि बरसाते रहते हैं। वे थोड़े प्रसन्न होकर लौटते हैं। कोई अच्छी चीज आई होती है, तो वह दिन उनके लिए उत्सव का दिन बन जाता है। वे बड़ी दिलचस्पी के साथ जहाँ-तहाँ फिरते कहते है, 'आज जलेबी मिलेगी।' 'आज गुलाब जामुन मिलेंगे' इसकी खबर फैलाने मे उनको बड़ा मजा आता है। ये बालक खाने की चीज के पास रहना चाहते हैं इसलिए ये परोसने के उम्मीदवार बनते हैं, अथवा इनको जब भी परोसने को कहा जाता है, तो वे कभी इनकार करते ही नही। दूसरे बालको की तरह परोसने की व्यवस्था में इनकी दिलचस्पी कम ही होती है। कुछ और बालको की तरह परोसना सीखने मे, जैसे दूध की एक बूंद भी गिराए बिना दूध परोसने मे या ऐसे ही दूसरे कामो मे इनको मजा नही आता। इनका मजा तो नाश्ते की चीजो को देखने मे, उनके निकट बने रहने मे और कभी मौका मिल जाए, तो मुँह मीठा कर लेने मे होता है। दूसरो की तरह खाने के समय में वे शायद हो कभी गैर हाजिर रहते हैं। अगर इनको कोई सजा देनी हो, तो इनको गैर हाजिर रखना ही इनकी सजा हो जाएगी। इस बिरादरी के एक बालक को एक बार दूसरे बालको से अलग किया गया। जब तक उसको नाश्ता मिलता रहा, तब तक अपने अकेलेपन की कोई स्पष्ट छाप उसके मन पर पड़ी नही। किन्तु जब उसका नाश्ता बन्द किया गया, तो उसको अपना अकेलापन बहुत अखर गया। इस बिरादरी के बालक भोजन का समय शायद ही कभी चूकते है। अगर यह तय किया जाए कि 'जो इतना पढ लें, वे भोजन करें,' तो निश्चय ही भोजन का समय होने तक वे अपना सिर ऊँचा किए बिना पढ़ते ही रहेगे। दूसरा कोई काम-काज हाथ में रहा नही है, इसलिए भोजनालय के सामने पहुंचकर वहाँ ▌ इकट्ठा होते नही हैं, पर उनके मन में इस बात की चटपटी जरूर बनी रहती है कि कब नाश्ता हाथ मे आए। जब दूसरे बालको की तरह वे अकेले-अकेले परोसते होते हैं, तो ऐसे उदाहरण भी सामने आए हैं, जब उन्होंने चुपचाप कोई चीज अपने मुँह में डाली तो हो। भोजन करते समय वे रंक आदमी के हाथ में आए गुड़ की तरह स्वाद ले लेकर धीरे-धीरे खाते हैं। वे कभी प्रकट रूप में, तो कभी छिप कर खाने की चीजें उड़ा भी लेते हैं। एक बार भोजन के समय मेरे

पास बैठी हुई एक लड़की ने मेरी रकाबी में से एक पेड़ा उस समय उठा लिया, जब मैं दूसरी तरफ देख रहा था ! दूसरी एक अधिक बुद्धिमती लडकी ने काम करने का दिखावा करके जूठे बरतन उठाने शुरू किए, किन्तु उसका मूल हेतु तो जूठा चिवड़ा खाने का रहा ! इसमें शक नही कि बिलकुल छोटे और नए बालक, जो अछूती चीज में और जूठन मे कोई भेद नही कर पाते, वे मूंगफली के दाने ले लेते हैं। वे किसी की रकाबी मे से खाने की कोई चीज उठा लेते हैं, नीचे गिरी हुई चीज ले लेते हैं या किसी के हाथ से छीन करके हाथ भी खा लेते हैं। जो बालक अपनी रुचि की किसी एक चीज पर ही टक लगाए रहते है, उन बालकों को हम एक अलग बिरादरी में रखते हैं। ये बालक, उन बालकों में नहीं होते, जिनका मन अपनी देखी हर चीज को खाने के लिए तरसता रहता है, अथवा जो मौका मिलते ही कुछ-न-कुछ खाते रहते हैं। यहां उनके बारे में कुछ भी कहा नही गया है।

मेरे पास बैठी हुई लडकी ने जब मेरा पेड़ा खा लिया, तो मुझको बुरा लगा। लड़की भली थी। प्रेमल स्वभाव की थी, मुझको उस पर दया आई। फिर भी जब मैंने सबके देखते उसकी निन्दा की और कहा : 'यह तो बुरी बात है !' तो बाद मे मैंने अनुभव किया कि मेरा वह काम अनुचित ही था। मैं तो उसको बीमार ही मानूंगा। मैं मानता हूं कि मुझको उसका मानसिक उपचार करना चाहिए। जब बीमारी का कारण अन्दर हो, तो बाहर की डांट-फटकार का उपयोग ही क्या ?

जो दूसरी लड़की चिवड़ा खाया करती थी, जब मैंने उससे बात की, तो पता चला कि उसको अपने घर में पूरा खाना नही मिलता। जो मिलता है, वह थोड़ा-थोड़ा मिलता है, और यह कहकर मिलता है : 'तुमको टट्टी लग जाएगी।' 'तुम तो बहुत खाती हो' अपनी बात कहते-कहते लड़की बहुत दुखी हो उठी, और उसकी आंखें छलछला आईं। जब वह किसी काम मे लगी न होती, बेचैन-सी घूमती होती, या किसी पर चिढ़ती होती, तो मैं उससे पूछता: 'आज तुम ने भोजन किया ?' और हर बार मुझको एक ही जवाब मिलता : 'जी नही, आज मां मुझ पर नाराज हुई हैं, और मुझको खाना दिया नही है।' इससे मुझको तुरन्त ही पता चल जाता कि इस सारी अव्यवस्था का कारण क्या है।

उपचार के रूप में एक दिन मैंने उसके सामने,नाश्ते की दो रकाबियाँ रखवाईं। लेकिन दो रकाबीवाला नाश्ता उसने एक ही दिन किया। दूसरे दिन वह शरमा गई। दूसरे बालकों ने उसके मन में यह शरम पैदा कर दी। शरम के मारे उसने बाल-मन्दिर में तो खाना छोड़ दिया, किन्तु उसकी मूल वृत्ति तो जैसी की तैसी बनी ही रही। लाज-शरम के कारण कुछ बाहरी परिणाम प्रकट हो सकते हैं। इससे तो जो प्रकट रूप में सच्चा है, उसका सच्चापन दब सकता है। इस तरह विकृति के अन्दर पैठ जाने पर उसको सुधारने के या उसके सुधरने के अवसर दिन-पर-दिन कम होते जाते हैं। इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य अपनी वृत्ति को पहचानना भी भूल जाता है, अथवा वह यह मान लेता है कि बाहर से दबने के बाद छिपी हुई वृत्ति संयत हो गई है जबकि वह विकृत वृत्ति तो इस या उस रूप में फिर रोग की तरह प्रकट होने ही वाली है !

जिस बालक को अकेले रहने को कहा गया था, दो दिन पहले वह जूठी रकाबी में रखी हुई 'जलेबी' की तरफ तृष्णा-भरी आँखों से देख रहा था। कोई उसको न देखे, तो वह उस जलेबी को उठा लेने की तैयारी में था। तभी मेरी निगाह उस पर पड़ी, और वह वहाँ से खिसक कर चला गया।

जब बालकों की यह अतृप्त मण्डली मेरे कमरे में परोसने का काम करती है, तो यह फुरती के साथ परोसती है, अपनी व्यवस्था-शक्ति का परिचय देती है, बालकों को कमरे में दाखिल करने का काम करती है, मेरे सामने प्रसन्न रहती है, और मुझको अपनी आज्ञापालकता का परिचय देती है। पर उनका यह सारा व्यवहार मुझको बेचैन बनाता रहता है। इस तरह परोसने आदि के काम करके वे खाने की अपनी इच्छा को तृप्त करते हैं। मतलब यह कि अपने घरों में वे भूखे रहते हैं, और यहाँ उसका बदला इस तरह पाकर कुछ खुश हो लेते हैं। यह सब देखकर मुझको बहुत दुःख होता है। अपनी इसी भूमिका के कारण वे बालक परोसने की उत्सुकता दिखाते हैं, इसमें प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, और मेरी बातें मानते हैं। ये सारे काम ये शिक्षा की दृष्टि से न करें, अपने आन्तरिक विकास के लिए न करें, परोसने, सजाने-सँवारने, हाथ देखने, बैठाने आदि के सब काम अपने अन्तर

के विकास के लिए न करें, बल्कि खाने-पीने की चीजों के आसपास बने रहने के लिए ही करें, तो इसमें न कोई शिक्षा है, और न कोई प्रगति ही है। इसमें तो सब प्रकार की हानि ही हानि है!

अपने बालकों को भूखों मारना हम पसन्द करते ही नहीं। किसी की ऐसी इच्छा हो भी तो वह एक दुष्ट इच्छा ही मानी जाएगी। किन्तु यह बात गलत नहीं है कि अलग-अलग कारणों से हम अपने बालकों को 'तृप्त होकर' 'सन्तुष्ट होकर' 'खुश होकर' 'भर पेट' खाने ही नहीं देते हैं। जब हम अपने बालकों को भर पेट खिलाते ही नहीं हैं, तो फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है कि उन में ऐसा मुक्खड़पन प्रकट होता है?

असल में बालक भुक्खड़ के रूप में जन्म नहीं लेता। हर एक बालक को भूख लगती है। भूख लगने पर उसको खाना ही चाहिए। भूख खाने के लिए ही लगती है। लेकिन जब भूख लगने पर भूख की सच्ची स्थिति में, हम बालक को उचित और पर्याप्त आहार देने से इनकार करते हैं, उसमें बाधक बनते हैं, तो जो भूख स्वस्थ मनुष्य में होनी चाहिए, और जब वह नहीं होती, तो चिन्ता का कारण बनती है, वही भूख विकृत बनकर मुक्खड़पन की बीमारी का निमित्त बन जाती है। लगता है कि अपने बालकों के मुक्खड़पन के लिए स्वयं हम ही जिम्मेदार हैं।

यह एक हमारा वहम ही है कि बालक हमेशा बहुत खाते नहीं हैं। यह बात भी सच नहीं है कि बालक रोज-रोज, तरह-तरह की, नई-नई चीजें ही खाना चाहते हैं। किन्तु उनको थोड़ी विविधता के साथ उनकी भूख मिटाने वाला पोषक आहार मिलता रहे, वे तृप्त होकर खा सकें, ऐसी चीजें उनको मिलती रहें, तो बालक खुद ही अपने आहार के प्रकार और प्रमाण का अन्दाज हमको दे सकेंगे। अपने अनुभव से ही उनको पता चलता रहेगा कि किस चीज के खाने से क्या होता है, और उसको क्यों नहीं खाना चाहिए। बालक के लिए स्वास्थ्य-प्रद आहार का अन्दाज मिल जाने के बाद हम बालक को उसकी सच्ची भूख तृप्त करने के अवसर देते रहेंगे, तो निश्चय ही बालक मुक्खड़पन से बच सकेगा।

बिल्कुल छोटे और अबोध बालकों से हम अपना यह प्रयोग शुरू कर सकते है। बालक को मुक्खड़ न बनाने की चाबी हमारे, यानी हम माता-पिताओं के हाथों में है। यदि माता-पिता अपने बालकों को खिलाने-पिलाने में सावधानी बरतेंगे, तो बहुत खाकर बीमार पड़ने, जूठन खाने, और दिन-रात खाने की ही बात सोच-सोच कर मुक्खड़ बनने—जैसे रोगों से हमारे बालक अवश्य ही मुक्त रह सकेंगे।

काकी घर में बुला रही हैं

मुझको अपने बचपन की एक घटना याद आ रही है। मेरा एक मित्र मेरे घर मेरे साथ खेलने के लिए आया हुआ था। हम दोनों खेल रहे थे, तभी मेरी बड़ी बहन आई और मुझसे बोली : 'भैया ! काकी तुमको घर में बुला रही हैं।'

मैं घर में पहुँचा, तो काकी ने मुझको बादाम की एक पूरी दी। बोली : 'यहाँ, इस कोने में, बैठकर खा लो। वहाँ बाहर तो तुम्हारे मित्र है। भला, अपने मित्र को छोड़कर खाना मुझको अच्छा कैसा लगता ? मैंने कहा : 'मैं नहीं खाता। बाद में खा लूँगा।'

काकी बोली : 'भैया ! अभी ही खा लो। जल्दी करो। कहीं बाहर बैठे तुम्हारे मित्र अन्दर न आ जाएँ।' काकी ने अपनी बात ऐसे ढंग से कही कि मैं अधिक कुछ कह नहीं सका। मैंने बादाम की पूरी खा ली।

मेरा मित्र तो अधीर भाव से मेरी बाट देख ही रहा था। मुझको आया देखकर वह खुश हुआ। हम दोनों फिर खेलने लगे। कुछ देर तक हम खेले। बाद में मित्र अपने घर चला गया।

इस बात को कई साल बीत चुके हैं। लेकिन फिर भी बार-बार मेरे मन में यह विचार आता रहता है, मानो आज भी अपने मित्र से छिपाकर मैं बादाम की पूरी खा रहा हूँ मानो मैं गुपचुप कोई पाप कर रहा हूँ ! मैं सोचता रहता हूँ कि काकी के कहने से मैंने यह क्या कर डाला ? अपने मित्र को छोड़ कर मैंने एक चोर की तरह पूरी क्यों खाई ?

मेरे मन मे बार-बार अपनी काकी पर गुस्सा आता है। बादाम की पूरी के एक टुकड़े के लिए उन्होने मुझको चोर क्यों बनाया ? मुझको चुपके-चुपके

पूरी क्यों खिलाई ? उसमें से एक टुकड़ा मेरे मित्र को देने से इनकार क्यों किया ? यदि मेरे मित्र को पूरी का दूसरा टुकड़ा दे दिया होता, तो कौन बड़ी कमी हो जाती ?

बरसों बाद पिछले हफ्ते मैं अपने एक रिश्तेदार के घर गया था। वहाँ ठीक वैसे ही एक घटना घटी। मेरे मित्र की पत्नी ने अपनी छोटी बेटी से कहा : 'रघु को यहाँ बुला लाओ। आकर यह शरबत पी जाए। सुनो, रघु से कहना कि बुआ जी साग-सब्जी सँवारने के लिए बुला रही हैं।' रघु साग-सब्जी सँवारने के लिए पहुँचा और चुपचाप शरबत पीकर लौटा। रघु अभी बहुत छोटा है। खुद सोचने-समझने की उसकी उमर नहीं है। लेकिन बुआजी तो पचास और पाँच साल की हैं। वे झूठ बोलीं। उन्होंने झूठा काम किया, और रघु से भी झूठा काम करवाया !

मैंने सोचा : 'चालीस साल बीत चुके हैं। फिर भी, आज हालत तो वही की वही है। जैसी काकी थीं, वैसी ही बुआजी हैं।'

मेरा मन सोचने लगा : 'आज से बरसों बाद भी शायद हालत तो यही बनी रहेगी। काकी के और बुआजी के ये विद्यालय चलते ही रहेंगे, और उनमें रघु और चम्पा की पढ़ाई होती ही रहेगी। फिर भले ही दूसरे विद्यालयों में सच बोलने और सच्चा काम करने के पाठ क्यों न पढ़ाए जाएँ? इन विद्यालयों के शिक्षक भले ही बहुत प्रभावशाली और सच्चरित्र क्यों न हों, पर उनका पढ़ाया तो सारा बेकार हो जाएगा। जब तक काकीजी और बुआजी, काका और भैया, मौसी और मामा, सब छोटे बच्चों को इस तरह अपने मित्रों को छोड़कर गुपचुप खाने और खिलाने की शिक्षा देते रहेंगे, तब तक नैतिक शिक्षा के, धार्मिक जीवन के, सत्य विचार के और सत्याचरण के हमारे सारे उपदेश निरर्थक ही रहेंगे !'

श्यामजी भाई के घर

थालियाँ रख दी गईं। पाटे बिछा दिए गए। पानी के लोटे भरे गए और कहा गया : 'चलिए, भोजन का समय हो चुका है।'

आज चम्पा बहन और उनकी माँ श्यामजी भाई के घर मेहमान की तरह आई थी।

श्यामजी भाई और शान्ता बहन के अपने तीन बच्चे थे—एक पुत्र और दो पुत्रियाँ।

श्यामजी भाई ने अपने तीनों बच्चों को इशारे से कहा कि वे पाटों पर बैठ जाएँ। उनके पास चौथा पाटा चम्पा बहन के लिए लगाया।

चम्पा बहन बोली : 'माँ ! मैं तो तुम्हारे पास ही बैठूँगी। मुझको वहाँ नहीं बैठना है।'

चम्पा बहन की माँ, शान्ता बहन और गौरी बहन आदि के लिए बड़े पाटे एक तरफ बिछे थे, और बालकों की मण्डली दूसरी तरफ बैठी थी।

चम्पा बहन की माँ ने कहा : 'बेटी चम्पा ! तुम वहीं सब बच्चों के साथ बैठो। देखो, ये तीनों भाई-बहन कैसे बैठे हैं। तुम्हारा पाटा भी वहीं लगा है।'

'ना…ना…ऊँ…ऊँ…, मैं तो तुम्हारे पास ही बैठूँगी। तुम्हारे पास। ऊँ…ऊँ…तुम्हारे ही पास।'

'मेरे पास जगह नहीं है। तुमको वहीं बैठना होगा।'

'नहीं। वह जो पाटा बिछा है, मैं उसी पर बैठूँगी।' चम्पा बहन जिद-भरी आवाज से बोली।

वह पाटा गोरी बहन के लिए था। श्यामजी भाई ने रास्ता निकालते हुए कहा : 'चम्पा बहन ! ठीक है, तुम अपनी माँ के पास बैठ जाओ। गोरी बहन ! तुम चम्पा बहन की जगह जाकर बैठो।'

जगह बदल गई। चम्पा बहन की माँ का मन दुखी हो उठा। उन्होंने चम्पा बहन के सामने गुस्से-भरी आँखों से देखा, पर वे अपने गुस्से को पी गईं। उन्होंने मन-ही मन सोचा : 'इसकी यह आदत अच्छी नहीं है।'

परोसना शुरू हुआ। चम्पा बहन बोली : 'माँ ! तुम इस दोने को पकड़े रखो।' 'माँ ! तुम इस साग को इसकी जगह पर रख दो।' 'माँ ! इस पूरी को ठीक से रखो।' 'माँ ! देखो, यह रायता बह रहा है। इसको पोंछ दो।'

माँ ने कहा : 'चम्पा बहन ! देखो, ये बच्चे अपने सारे काम खुद किस तरह कर रहे हैं ? तुम भी कर सकती हो। तुम तो इन देवी बहन और रमा बहन से कुछ बड़ी ही हो !'

चम्पा बहन बोली : 'माँ ! तुम ही कर दो न ! तुम तो सब कुछ कर लेती हो। करना जानती भी हो। घर पर रोज कर ही देती हो।'

भला, चम्पा बहन की माँ क्या कहती ? उन्होंने मन-ही-मन कहा : 'चम्पा में ये आदतें नहीं होनी चाहिए। मुझको इनका कोई इलाज करना ही चाहिए। मेरे बिना इसका कोई काम होता ही नहीं। मेरे कर देने पर ही चम्पा बहन खुश होती है। ये सब कुछ मुझ पर ही छोड़ देती हैं। यह अच्छी बात नहीं है।'

केले आए। चम्पा बहन ने कहा : 'माँ। मैं दो केले लूँगी। दो, हाँ, दो केले !'

सबको एक-एक केला परोसा गया।

माँ बोली : 'यहाँ तो सबको एक ही एक केला मिलेगा।'

चम्पा बहन ने कहा : 'तब तो मैं तुम्हारा केला खा लूँगी।'

माँ ने बड़ी आवाज में कहा : 'नहीं, ऐसा नहीं होगा। तुम अपना खाओ, मैं अपना खाऊँगी।'

'ऊँ...ऊँ...ऊँ...ऐसा कैसे हो सकता है ? मुझको तो दो केले खाने हैं। तुम नहीं दोगी, तो मैं तुम्हारा केला उठाऊँगी और खा जाऊँगी।'

चम्पा बहन ने केला उठा लिया, किन्तु तभी श्यामजी भाई ने दूसरा केला मँगवा लिया और चम्पा बहन को दो केले मिल गए।

चम्पा बहन की माँ बहुत ही शरमा गईं। उनका सिर शरम से गड़ गया!

दूसरे सब बच्चे चुपचाप बैठे थे। वे आपस में बातें भी करते जाते थे। वे मन-ही-मन मुसकुरा रहे थे। जो चीजें परोसी जाती थीं, उनको वे सँभालकर रख रहे थे।

जब भोजन शुरू हुआ, तो चम्पा बहन बोली : 'माँ, यह साग तो मुझको बहुत तीखा लग रहा है। इसको तुम ले लो।'

माँ ने कहा : 'तुम उसको अपनी थाली में ही रहने दो।'

'लेकिन मुझको यह अच्छा नहीं लग रहा। तुम ले लो, नहीं तो मैं इसको नीचे गिरा दूँगी।'

चम्पा बहन की माँ कुछ बोली नहीं, और चम्पा बहन ने साग अपनी माँ की थाली में डाल दिया।

चम्पा बहन की माँ बेचैनी अनुभव कर रही थी। श्यामजी भाई के बच्चे सुन्दर ढंग से खा रहे थे। जो चीज उनको अच्छी नहीं लगती थी, उसको वे छूते नहीं थे। वे तीनों परस्पर बातें करते रहते थे।

श्यामजी भाई, शान्ता बहन और गौरी बहन भी आपस में बातें करते जाते थे। बीच-बीच में चम्पा बहन की माँ भी उनका साथ देती थी।

चम्पा बहन बोली : माँ ! तुम मेरी बात तो सुनो ! तुम तो मेरी बात सुन ही नहीं रही हो !'

चम्पा बहन की माँ ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया, तो उन्होंने अपना जूठा हाथ लगाते हुए पूछा : 'माँ ! तुम मेरी बात सुनोगी या नहीं ?'

चम्पा बहन की माँ थोड़ी खिसिया गईं। उन्होंने सोचा, 'यह ऐसी लड़की है ?'

श्यामजी भाई बड़े चतुर आदमी थे। उन्होंने अपने बच्चों के साथ बातचीत शुरू कर दी। जब चम्पा बहन का ध्यान उस बातचीत की तरफ गया, तो उनकी माँ की परेशानी कुछ दूर हुई। चम्पा बहन को माँ ने सोचा: 'या तो मुझको किसी के घर भोजन के लिए जाना नहीं चाहिए, अथवा चम्पा बहन को सुधारना चाहिए।' फिर वे मन-ही-मन गुनगुनाईं: 'किन्तु इसमें चम्पा बहन का दोष क्या है? घर में भोजन करते समय यह जो व्यवहार मेरे साथ और अपने पिताजी के साथ रोज ही करती है, वही यहाँ भी कर रही है। जैसी इसकी आदत बनी है, वैसी ही यह दीख रही है। अब मैं मन-ही-मन उकताऊँ या गुस्सा भी होऊँ, तो उससे फरक क्या पड़ने वाला है?'

चम्पा बहन ने खाते समय अपने दोनों हाथ जूठे कर लिए थे। उनके कपड़ों पर और आस-पास भी दाल के छींटे पड़े थे। हाथ का टल्ला लगने से एक बार तो दाल का दोना ढुल ही गया था, और थाली सारी गन्दी-गन्दी हो गई थी! उनके मुँह पर भी काफी जूठन लगी थी।

चम्पा बहन की माँ कभी श्यामजी भाई के बच्चों की तरफ देखती, और कभी अपनी बेटी की तरफ देखती।

सब भोजन करके उठे। दूसरे बच्चे सीधे नल पर पहुँचे। उन्होंने हाथ धोए। मुँह धोया। कुल्ले किए और हाथ पोंछे।

चम्पा बहन ने चिल्ला कर कहा: 'माँ! मेरे हाथ धुला दो न?' बाद में तौलिए के रहते हुए भी उन्होंने हाथ अपने पोलके से ही पोंछ लिए।

श्यामजी भाई यह सब देख रहे थे। वे बोल-चाल में बड़े ही धीर और गम्भीर थे। चम्पा बहन की माँ की इन परेशानियों को वे समझ रहे थे। वे उनके मामा की बेटी होती थीं।

भोजन के बाद सबके लिए पान-सुपारी आई। चम्पा बहन ने धनिये की मुट्ठी-भर दाल उठा ली। मुँह में एक साथ दो पान भर लिए। बाद में उनको जोर का एक ठसका आया, और उनकी आँखें और गाल लाल-लाल हो गए।

चम्पा बहन की माँ को आज वहाँ अधिक रुकना अच्छा नहीं लग रहा था। उन्होंने जल्दी में श्यामजी भाई से घर जाने की अनुमति माँगी, और वह अपने घर जाने को तैयार हो गईं।

श्यामजी भाई ने कहा : 'बहन, जरा बैठो। मैं देख रहा हूँ कि ये चम्पा बहन तुम को बहुत हैरान करती रहती हैं।' सुनते ही चम्पा बहन की माँ की आँखों में आँसू छलछला आए।

श्यामजी भाई बोले : 'सुनो बहन ! अगर हम बचपन से ही बालकों को व्यवस्थित रहने की रीति सिखादें, और उनको बता दें कि यह काम इस तरह और वह काम उस तरह करना है, इस प्रकार से बैठना है, ऐसी रीति से खाना है, हाथ इस तरह धोने हैं, ये सारे काम हम उनको खुद करके दिखा दें, और शुरू शुरू मे वे जैसा भी कर पाएँ, उनको करने दें, तो बालक धीरे-धीरे ये सारे काम करना सीख जाते हैं, जिनको तुमने अभी यहाँ अपनी आँखों देखा है। इसको मैं भोजन का आचार कहता हूँ। हमको यह अच्छा नहीं लगता कि हमारे बालक भोजन करते समय हल्ला मचाएँ, बार-बार रोएँ, और कहे कि उनको यहाँ अच्छा नही लगता और वहाँ अच्छा नही लगता, और कभी माँ की, तो कभी पिता की बगल में घुसकर बैठ जाएँ। जब कभी हम उनको ऐसा काम करने देते है, तो वे हमको थका डालते हैं ! मैंने तो शुरू मे ही यह व्यवस्था रखी है कि ये पटे बच्चो के, ये थालियाँ बच्चो की, यह उनके बैठने की जगह, ये उनके चम्मच, ये उनकी कलसियाँ, यह हाथ धोने की जगह, और यह हाथ पोछने का उनका तौलिया आदि-आदि। मैंने उनके लिए ये जो सारी चीजें बनवाई हैं, सो इसी हिसाब से बनवाई हैं कि वे खुद इनको उठा सकें, ला सकें और धर सकें। उनको भी ये सब चीजें बहुत पसन्द है।

'मैंने इनको भोजन के समय के नियम भी समझा दिए है। खाने की कोई चीज सामने आए और लेने लायक लगे, तो अँगुली उठाकर इशारा कर दें। जो चीज भाती न हो, वह थाली में आ जाए, तो उसके लिए पास ही में एक रकाबी रखवा देता हूँ, जिसमे बालक उस चीज को रख देते हैं। इस प्रकार अनुभव के आधार पर, व्यवस्था की दृष्टि से, जो नियम उपयोगी लगे

हैं, उन पर अमल होता रहता है। जबरदस्ती से कोई काम करवाना नहीं है। काम न करने पर सजा भी नहीं देनी है। मैं उनको रोज-रोज यह सब करने देता हूँ, और रोज-रोज करने की आदत डालकर उनको सीखने के अवसर भी देता रहता हूँ। मैं उनसे झूठा प्यार-दुलार नहीं करता। अगर वे गलत रीति से कोई चीज माँगते हैं, या कोई काम करते हैं, तो मैं उस समय उस पर ध्यान नहीं देता। बाद में उनकी कठिनाई समझकर दूसरे दिन सब कुछ निपटा देता हूँ।

'मैं अपने बालकों के साथ बातचीत करने की और उनको समझने की कोशिश करता रहता हूँ। उनके छोटे-बड़े सुख-दुःख पर ध्यान देता हूँ, और उनके बारे में सोचता भी रहता हूँ। मैं कोशिश करता हूँ कि वे मेरी ही तरह स्वतन्त्र, स्वाधीन और प्रसन्न बने रहें।'

चम्पा बहन की माँ बोली : 'भैया ! मैं सोच रही हूँ कि कुछ दिनों के लिए मैं तुम्हारे घर रहने आ जाऊँ, और अपनी आँखों देखूँ कि तुम ये सारे काम किस तरह करते और करवाते हो। तभी मैं सब कुछ समझ पाऊँगी।'

श्यामजी भाई ने कहा : 'यह तो बड़ी अच्छी बात है। तब तो तुम अगले हफ्ते ही यहाँ आ जाना। यह तो तुम्हारा ही घर है न !'

सुनकर चम्पा बहन की माँ की छाती कुछ शान्त हुई।

•

माँ, तुम सुनती नहीं हो !

खाते-खाते नन्हीं मुन्नी ने उकताहट-भरी आवाज में लाचारी के साथ कहा : 'माँ ! मैं तुमको परोसने के लिए कई बारीक-सारीक बातें कहती हूँ, लेकिन तुम सुनती ही नहीं हो। आखिर बिना पूरा भोजन किए ही मुझको उठ जाना पड़ता है।'

नन्हीं मुन्नी कोई सात साल की है। किन्तु उसकी बुद्धि तीव्र है। वह बारीक-सारीक सारी बातें समझती है, और अपनी भाषा के जरिए सब-कुछ व्यक्त करती रहती है।'

नन्हीं मुन्नी के चार और भाई-बहन है। पाँचों भाई-बहन और एक पिता सब एक ही साथ भोजन करने बैठते हैं। माँ चाहती हैं कि गरम-गरम चपातियाँ बनाती जाएँ और सबको गरम-गरम ही खिलाती जाएँ इसी के साथ उनकी भावना यह भी बनी रहती है कि सब एक साथ खाने बैठें, और घर के सब लोग बातें करते-करते खाएँ, तो अच्छा लगे। लेकिन खाने वालों को कभी इस चीज की जरूरत होती है, तो कभी उस चीज की। सब बारी-बारी से कुछ-न-कुछ माँगते ही रहते है। माँ अकेले हाथों सबकी माँग पूरी करना चाहती हैं। किन्तु एक तरफ गरम चपातियाँ तैयार करना और दूसरी तरफ सबको परोसते भी रहना, ये दोनों काम झट-झट हो ही नहीं पाते। ऐसी ही स्थिति मे उस दिन मुन्नी को ऊपर कही गई बात कहनी पड़ गई।

भोजन की, आपस की बातचीत की और रसोई-घर की शोर-भरी आवाजों में मुन्नी की ये बातें दूसरों ने सुनी हों, या न सुनी हों, मैंने तो इनको सुना, और ये मेरे मन मे पैठ गईं।

मैं सोचने लगा : 'इसका क्या उपाय किया जाए ? सचमुच ही मुन्नी अपनी माँ से बारीक-सारीक चीजें माँगती रहती है। किन्तु बड़ों की बातों में

या तो माँ को कुछ सुनाई ही नहीं देता, अथवा माँ का ध्यान ही किसी दूसरे काम में रहता है। माँ को माफ किया जा सकता है, पर मुन्नी की मुश्किल को कैसे दूर किया जाए ?'

मन में एक विचार यह आता है कि माँ को पहले से सब कुछ पकाकर रखना चाहिए और बाद में सबको निश्चिन्त होकर परोसना चाहिए। इस पर माँ कह सकती हैं : 'भई, गरम-गरम चपातियों या पराठों की क्या व्यवस्था हो ?' मैं कहता हूँ कि या तो आप अपनी चपलता इतनी बढ़ा लो कि चारों तरफ ध्यान दिया जा सके, या थोड़ा ठण्डा भोजन खाना और खिलाना पसन्द कर लो। भोजन करते समय अच्छे और गरम-गरम भोजन का प्रश्न महत्वपूर्ण तो है ही किन्तु उससे भी अधिक महत्व का प्रश्न यह है कि बालक तृप्त होकर भोजन करें, अर्थात् उनको ऐसे अच्छे ढंग से परोसा जाए कि भोजन के बाद वे तृप्ति का अनुभव कर सकें। यदि माँ की गृहस्थी में रसोई बनाने के लिए रसोइए की व्यवस्था हो, और माँ गरम-गरम चीजें परोसने का प्रबन्ध करें, तो गरम-गरम रसोई खिलाने की उनकी इच्छा को हम पूरा होने दें। (जबकि बहुत गरम भोजन खाने या खिलाने की आदत दाँतों के लिए हानिकारक है, और बहुत बढ़ावा देने लायक भी नहीं है।) अन्यथा अच्छा तो यही है कि माँ चूल्हे पर गरम हालत में रखी गई रसोई सबको प्यार और मनुहार के साथ, सबकी माँगों को ध्यान में रखकर, परोसा करें। एक विचार यह भी है कि माँ पहले पूरी रसोई बनालें, और फिर वे भी साथ में बैठकर सबके साथ ही भोजन किया करें। छोटा परिवार हो, तो माँ बैठे-बैठे ही परोसा करें और घर के दूसरे लोग अगल-बगल बैठकर भोजन करते रहें। माँ को परोसना अच्छा लगता है, क्योंकि वे माँ हैं। वे अपने परिवार का पोषण करने वाली हैं। वे बालकों को, और समूची दुनिया को, सबसे पहले अपने अन्दर से पोषण, देती रहती हैं। वे ही अन्नदाता और अन्नपूर्णा माँ सीधे-सीधे नहीं, तो भोजन बनाकर और भोजन परोसकर हमारा पोषण करते रहने की अपनी वृत्ति को तृप्त करती रहती हैं। ऐसा करके वे प्रसन्नता का अनुभव करती हैं। इसके द्वारा वे पल-पल में अपने मातृत्व की सम्पूर्णता का विकास करती हैं और उसके आनन्द का अनुभव भी करती रहती हैं।

जिस तरह अपने बच्चे को दूध पिलाते समय माँ के मन में प्रेम उमड़ने लगता है, और तब माँ का दूध बालक के लिए अमृत रूप बन जाता है, उसी तरह परोसते समय भी माँ का मन पुलकित हो उठता है, और उसके मन मे आनन्द उमड़ने लगता है। कहा जाता है कि भले ही खाने को रोटी और नमक ही हो, लेकिन अगर माँ खिलाती हैं और वे बालक की पीठ पर हाथ फिराती रहती हैं, तो बालक के शरीर मे सेर-भर खून बढ़ जाता है! खिलाते समय बालको को सहलाने और चाटने की सहज आदत पशुओ मे भी पाई जाती है। परोसने और खिलाने का माँ का अधिकार किसी दुराग्रह के कारण माँ से छुड़वाना उचित नही है। माँ का स्थान रसोइया ले ले और माँ सिर्फ भोजन करने वाली सेठानी बनकर रह जाएँ, और माँ को यह सब अच्छा लगे, तो सोचना होगा कि इससे माँ का माँ-पन कम होगा या नही? किन्तु इस प्रश्न पर विचार करने का काम हम माँ पर ही छोड़ दें। इसी तरह माँ केवल भठियारिन बन जाएँ और बालक सिर्फ खाना खाने वाले बनकर रह जाएँ, तो वह भी कोई अच्छी बात नही होगी। बल्कि वह तो बुरी ही बात है। रसोइया भले ही रसोई बना दिया करे, किन्तु परोसने और खिलाने का अपना जो अधिकार माँ का रहा है, वह तो अटल ही रहना चाहिए।

यह भी देखा गया है कि माँ स्वयं रसोई नही बनाती। और अगर बनाती हैं तो भोजन के पहले ही बना लेती है। भोजन के समय पर माँ केन्द्र मे बैठे व्यक्ति का स्थान ले लेती हैं, और भोजन की सारी सामग्री अपने सामने रखकर सबको परोसती रहती है, और स्वयं भी भोजन करती रहती हैं। सबके साथ बैठकर भोजन करने के आनन्द को वे गरम-गरम चपातियाँ खिलाने के आनन्द से बढ़कर मानती है, और सचमुच बात भी ऐसी ही है। माँ सबके साथ बैठकर भोजन करें, भोजन करते-करते सबको प्यार और मनुहार के साथ परोसती रहे, नई-नई बातें करती रहे, और सबको हँसाती रहे, अपने आप मे यह भी एक प्यारा चित्र बनता है। कई संस्कारवती माताएँ अपने बालकों को इस रीति से भोजन कराती हैं। माँ अपनी निगरानी मे रसोई तैयार करवाएँ और फिर भोजन के समय स्वयं अन्नपूर्णा बनकर बैठे, तो इसमें कोई

बुराई नही है, यह तो एक अच्छी बात है। ऐसा होने पर मां अपने बालको को अधिक सजीव और प्रेरक लगेंगी।

कई बड़े परिवारो मे माँ के सामने नाना प्रकार के काम खड़े रहते हैं, ऐसे परिवारों में रसोइए रसोई बनाते हैं। भले ही वे रसोई बनाते रहे पर भोजन के समय तो माता, पिता और बालक सब एक साथ ही बैठते हैं और आपस मे बातचीत करते हुए भोजन करते है। पिता की तुलना मे माँ की निगाह बालको की थालियो पर अधिक दौड़ती रहती है। माँ प्रेम पूर्ण दृष्टि से बालको को परोसने या खाने के लिए कहती रहती है। जहा रसोइया कुशल होता है, और परोसने वाले खानदानी होते है, वहाँ माँ पौष्टिक भोजन को अपनी मीठी-मीठी बातों से अधिक पुष्टिकारक बना देती है। माँ का यह काम भोजन को पचाने मे भी मदद करता है। जहाँ ये सारी बातें सहज हो पुसा सकती हो, वहाँ यह व्यवस्था न केवल अपनाने लायक है, बल्कि प्रशंसनीय भी है।

आखिर मेरे विचार इस दिशा मे दौड़ते है कि कही माँ रसोई घर मे एक अनजानी व्यक्ति न बन जाएँ। रसोई बनाने की गड़बडी मे माँ इतनी न उलझ जाएँ कि नन्ही मुन्नियो की बातें उनको सुनाई ही न पड़ें। माँ को रसोईघर से इस हद तक हटना भी नही चाहिए कि बालको के लिए रसोई बनाने वाला एक रसोइया रह जाए, और उनको भोजन कराने वाली एक आया या नौकरानी वहा बनी रहे! माता और पिता को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि कही ऐसा न हो कि बडो की बातो के चलते बालको की बातें कोई सुनें ही नही अथवा नन्ही मुन्नियो की जरूरी और बारीक-सारीक बातें बडो के शोर के बीच अनसुनी ही रह जाएँ !

एक यह बात भी विचार करने लायक है कि पहले बालको को भोजन करा दिया जाए, और बाद मे माता-पिता भोजन करें। कुछ माता-पिताओ की अपनी रुचि यह होती है कि अपने बालको के साथ बैठकर भोजन करना उनको अच्छा लगता है। इसमे माता-पिता की परिवार-भावना मुख्य रहती है। एक साथ जीमने का अपना एक पारिवारिक आनन्द होता है। जहाँ

और माता-पिताओं के लिए एक साथ बैठने की सुन्दर व्यवस्था हो, भोजन करते समय माता-पिता केवल साथ में भोजन ही न करें, बल्कि उनके साथ जीयें अर्थात् बालकों की दुनिया के साथ घुल-मिलकर को बढ़ाते हुए भोजन करें, वहाँ यह व्यवस्था एक सुन्दर व्यवस्था। अपने उद्योगों में व्यस्त रहने वाले माता-पिता प्रायः दिन के अपने बालकों के सम्पर्क में कम ही आ पाते हैं। ऐसे परिवारों में भोजन लिए समान रूप से आनन्द का समय बन सकता है। बुद्धि-माता-पिता भोजन के स्थान को खूब आकर्षक और बना सकते हैं। वे उसको बालकों के लिए शरीर और मन का पाने का एक सुन्दर स्थान बना सकते हैं।

बालकों को पहले जिमा देने के कारणों के बारे में भी हम थोड़ा लें। जब माता-पिता स्वयं देर से भोजन करते हों, या उनके साथ भोजन करने वाले हों, मतलब यह कि जब बालकों के लिए माता-के साथ भोजन करना सुविधाजनक न हो, तब बालकों को पहले जिमा है। यह आवश्यक नहीं है कि बालक हमेशा माँ-बाप के साथ ही किन्तु यदि बालकों को भोजन कराने का मतलब एक उपाधि हो जाता हो, और बाद में आराम से गपशप करते हुए भोजन का हो, तो कहना होगा कि यह एक अनिष्ट वृत्ति है। भोजन के हमको परेशान करते हैं, इसलिए उनको अलग से भोजन करा की स्वार्थ-पूर्ण दृष्टि त्याज्य हो, तब तो बालकों को सुव्यवस्थित रीति से, विधिपूर्वक, सफाई के साथ भोजन करने की कला सिखाना और उनके साथ करना हमारा एक कर्त्तव्य होता है। जिस तरह भोजन हमारे लिए हम समझें कि बालकों के लिए भी वह वैसी ही है। कुछ से बालक प्रसंगवश कभी पहले या बाद में भोजन कर सकते हैं। भोजन के समय की व्यवस्था, शान्ति, माँ के प्रेम की प्रेरणा, पिताजी आदि चीजें तो बालक को बराबर मिलनी ही चाहिए। माँ भोजन हो और बालक [illegible]

[illegible]

तो अवश्य रहनी ही चाहिए। बालकों का भोजन कर लेना ही काफी नहीं है। जरूरी यह है कि बालक संस्कार-युक्त वातावरण में, मां की ऊष्मा के साथ, हँसते-हँसाते और गपशप करते हुए भोजन करें। यह भी जरूरी है कि नन्हीं मुन्नी की बारीक-बारीक बातें भी भोजन के समय सुनी जा सकें।

नन्हीं मुन्नी के कुछ शब्दों ने मुझ को जिन बिखरे विचारों की प्रेरणा दी, उन विचारों को मैंने यहाँ लिख डाला है। माता-पिता इसको पढ़ें और इस पर से अपने विचार बनाएँ।'

हमारी बातें

हम बड़े लोग घरो मे बैठे-बैठे कई तरह की बातें करते रहते हैं। जैसे, जात-पांत की बातें, सगों और सम्बन्धियों की बातें, लेन-देन की बातें, बचपन की बातें, दोस्त और दुश्मन की बातें और अड़ोसी-पड़ोसी की बातें। इसी तरह साहित्य की, काव्य की, विज्ञान की, विद्यालय की, दवाखाने की, और रेल गाड़ी आदि की अनेकानेक बातें चलती रहती हैं। हमारे बालक हमारे आस-पास घूमते रहते हैं। उनके अपने कान होते है, और उनके पास उनकी अपनी समझ भी होती है। हम जो कुछ भी बोलते रहते हैं, वह सब बीज-रूप मे उनके पास पहुँचता रहता है। समय आने पर, खाद-पानी पाकर, अनुकूल वातावरण मिलने पर, ये बीज उग निकलते हैं।

हम मानते है कि भला ये बालक हमारी बातो को क्या समझेंगे? लेकिन असल मे बात ऐसी है नही। सच है कि बालक हमारी कुछेक बातों को समझ नही पाते। फिर भी वे बातें उनसे चिपक तो जाती ही हैं। जिन बातो को वे समझ नही सकते, उन बातों का अर्थ वे अकसर अपनी पकड़ और रुचि के अनुसार लगा लेते हैं। कई बातों को तो वे ठीक अपने माता-पिता की दृष्टि से ही समझते, हैं। मतलब यह कि उनकी सुनी हुई बातें कभी बेकार नहीं जाती। उन बातो का भला-बुरा प्रभाव उन पर पड़ता ही रहता है।

यदि हम छोटे बच्चो को आपस मे बात करते हुए सुनेंगे, तो हमको इस बात की पूरी प्रतीति हो सकेगी। बालक आपस में एक-दूसरे से कहते हैं: 'मेरी माताजी कह रही थी कि अमुक स्त्री तो बुरी है।' 'मेरी चाचीजी कहती थी कि जब वे उस नाले के पास अकेली जाती हैं, तो मारे डर के थर-थर काँपने लगती हैं!' 'मेरे पिताजी मेरी माताजी पर नाराज होकर उनसे कह

रहे ये कि तुमने उसको अपने घर के अन्दर आने ही क्यों दिया? वह तो लुच्चा है।' 'बालक आपस में ऐसी कई बातें करते रहते हैं। उनको इन बातों के सच या झूठ होने की कोई जानकारी होती ही नहीं। लेकिन क्योंकि सब लोग कह रहे हैं, और कहने वाले सब बड़ी उमर के हैं, सयाने हैं, इसलिए वे उनकी ऐसी बातों को सच मान लेते हैं।

हमको बोलते सुनकर बालक आमतौर पर हमसे यह सीखता रहता है कि उसे अपने आसपास के लोगों को किस निगाह से देखना है, और उनके साथ कैसा बरताव करना है।

'अमुक बहन के घर हम कभी कुछ माँगने जाते हैं, तो वे हमको कभी देती नहीं हैं। फिर भला, हम उनको क्यों दें?' 'अमुक बहन को अपनी मोटर पर बड़ा गर्व है। वे उसमें बहुत फैलकर बैठती हैं।' 'अमुक भाई तो लोगों को दोनों हाथों से लूटते रहते हैं, और बाद में दान-धरम भी कर लेते हैं। लेकिन इससे लाभ क्या?' बालक इन सब बातों को सुनते हैं। शुरू में वे खुद ऐसी बातें बोलने लगते हैं और फिर वे इनको मानने भी लगते हैं। जब मानने लगते हैं, तो उनकी रुचि-वृत्ति भी हमारे समान ही बन जाती है।

बालक अपने घर में सुनते हैं: 'हमको यह सब पुसा नहीं सकता। उनको हमारे घर आना हो, तो वे आएँ, नहीं तो न आएँ। यहाँ रहने पर उनको काम तो करना ही पड़ेगा।' 'यह तो मैं हूँ कि सबको रसोई बनाकर खिलाती रहती हूँ। वे सब तो पैर पर पैर चढ़ाकर बैठी ही रहती हैं!' 'इस बेकार की सिरपच्ची के लिए मेरे पास फुरसत नहीं है। वे आएँ, तो उनसे कह देना कि मैं कहीं बाहर गया हूँ। आज मैं उनसे मिल नहीं सकूँगा।'

बालक ये सारी बातें सुनते रहते हैं। भला, उनके कान कहाँ जाएँ? वे सब कुछ समझते हैं और हम से सीखते रहते हैं—क्यों किसी के लिए तकलीफ उठाई जाए? क्यों किसी को मुफ्त में रहने दिया जाए? अपने लाभ का तो पूरा विचार करना ही चाहिए। झूठ बोलकर क्यों न बच लिया जाए?

घरों में बातचीत चलती ही रहती है: 'तुमने उस लड़की को देखा! बिलकुल पगली-सी है। उसमें न बैठने का शऊर है, और न बोलने का

सलीका ! उसकी माँ ने उसको बिगाड़ रखा है।' 'भैया ! सौतेली माँ को पड़ी ही क्या है ! सगी माँ होती, तो क्या ऐसी हालत रहती ? भगवान करे, किसी की माँ न मरे ! 'उस रघुनाथ की तो बात ही मत करो। मेरे तो कान दुखने लगते हैं। आवारा कहीं का ! पता नहीं, वह बाप है या राक्षस है ? अपने बेटे को तो बस, ढोर की तरह पीटता ही रहता है !' बालक इन सब बातों को भी सुनते रहते हैं, और फिर सहज ही सोचने लगते हैं : 'हाँ, उसकी माँ बुरी है। उसका बाप राक्षस है। और, यह तो ऐसा है, और वह वैसा है !'

घर के सब लोग इकट्ठा होकर अपने-अपने बचपन की बातें करते हैं : 'बाप रे बाप ! अगर कोई मुझको छू तक लेता तो मैं इतना चीखता और चिल्लाता कि सारा गाँव मेरे रोने की आवाज से गूँजने लगता ! मेरे पिताजी कोतवाल थे। वे मुझको छूने वाले की लू उतार कर ही रहते !' 'मुझको पाठशाला जाना अच्छा नहीं लगता था। मैं तो सिर दुखने का झूठा बहाना करके घर ही रह जाता था।' 'अपनी माँ की मार से बचने के लिए मैं झूठ बोला करता था। सिर्फ एक बार मैं पकड़ा गया। बस, एक ही बार !' बच्चे तो सुनते ही रहते हैं। उनको अनेकानेक पाठ सीखने को मिलते हैं।

'मेरा सीमंत संस्कार नहीं हुआ, तो नहीं ही हुआ। यह सब कुछ मेरी उस अभागिन ननंद ने किया।' यह रमा जब मेरे पेट में थी, तब मुझ पर दुःख के कैसे-कैसे पहाड़ टूटे ? बुरा हो, मेरी उस सास का।' 'भैया ! पिताजी तो बचपन में ही गुजर चुके थे। और काकाजी तो बस, काकाजी ही थे ! उन्होंने मुझको कितना सताया ? अब वे कहीं मिल जाएँ तो मैं तो उनका मुँह भी न देखूँ।' बालक ननंद, सास और काका के विषय में विरोधी विचारों का संग्रह करता रहता है।

घर में बातों का तो कोई हिसाब होता ही नहीं। 'भला, उसकी क्या ताकत की वह मुँहजोरी करे ? उस अभागिन को एक लाठी जो मारी, सो सिर फोड़ डाला !' 'हाँ, भैया ! सुनते हैं, नए न्यायाधीश वैसे तो अच्छे हैं, पर काम उसी का होता है, जो रिश्वत देता है। न्याय तो न्याय की जगह बना रहता है।' 'हमारे घर की बुराई करने वाला वह होता कौन है ? कल ही उसके

खिलाफ मुकदमा लगा दूंगा।' 'वकीलों और डॉक्टरों के तो बस ये ही धन्धे होते हैं। सब स्वार्थ के साथी हैं।' जब तक उनको पैसे मिलते हैं, वे आपके बने रहते हैं।' बालक को पेशेदार लोगों की अच्छी जानकारी मिलती रहती है।

हमको सोचना होगा कि क्या हम अपने बालकों के कानों तक चाहे जैसी ऐरी-गैरी बातें पहुँचने दें? अगर नहीं, तो क्या हम अपनी बातचीत के विषयों को बदलेंगे? और, सबसे अधिक महत्व की बात तो यह है कि क्या दुनिया को देखने की अपनी दृष्टि में हम कोई परिवर्तन करेंगे? क्या हम मौन रहना अधिक पसन्द करेंगे? हम अपने बालकों को स्वयं सोचने की और सच-झूठ को खुद ही पहचान लेने की शक्ति देकर दुनिया के बारे में अपनी राय बनाने की स्वतंत्रता देंगे, या उनको अपनी ही राय के वातावरण में पाल-पोसकर उनकी अपनी राय को मिटाते ही रहेंगे?

बालकों के भी कान होते हैं

बाहर के कोई व्यक्ति हमसे मिलने आए हों, वे अपरिचित हों और नए हों, तो उनकी उपस्थिति में हम सोच-समझकर ही बोलते हैं। हम सोचते हैं कि अगर इस तरह बोलेंगे, तो उसका यह प्रभाव पड़ेगा, और दूसरी तरह बोलेंगे, तो उसका ऐसा अर्थ होगा। इस कारण हम अपनी वाणी पर अंकुश रखते हैं। जब हम किसी के घर जाते हैं, तो वहाँ भी हम इसी नीति का पालन करते हैं।

जब हम अपने मित्रों और घर-परिवार के लोगों के बीच होते हैं, तो वहाँ हमारा व्यवहार दूसरे ही प्रकार का होता है। वहाँ हम खुले दिल से बोलते हैं। बाहरी शिष्टता का और अपने बीच आए व्यक्ति का सम्मान करने का सामाजिक विचार मित्रों के बीच कुछ कम ही रहता है। इस कारण वहाँ कई ऐसी बातें होती रहती हैं, जिनको बाहर से आए हुए लोग सुनने को तैयार न हों, अथवा सुनकर चौंकें। ऐसी स्थिति में खेल-कूद की या हँसी-मजाक की कुछ बातें सहज ही होती रहती हैं, और वे किसी को अनुचित भी नहीं लगतीं।'

घर की मण्डली का घेरा इससे भी कुछ कम करें, तो उसमें घर-घर के ही लोग रह जाएँगे। उनके बीच तो तरह-तरह की कई बातें होती रहती हैं। बात करते समय उनके मन में इस बात की चिन्ता कम ही रहती है कि दूसरे लोग क्या सोचेंगे? वे अधिकतर जो दूसरों की ही बात करते होते हैं। बाहर का बन्धन कम-से-कम होने के कारण वे अधिक-से-अधिक खुल कर बात करते हैं। प्रायः उस समय की उनकी बातें शिष्टता का भी ध्यान नहीं रखतीं। इसलिए असल में वे जैसे होते हैं, अपनी बातों के रूप में वैसे ही दिखाई पड़ते हैं।

घर के लोगों में से भी जब बड़े बच्चे और दूसरे छोटे-बड़े लोग दूर होते हैं, तो स्त्री-पुरुष के बीच की बातें कुछ दूसरा ही स्वरूप ले लेती हैं। ऐसे समय में वे अपनी वास्तविक कुलीनता या अनार्यता को अपनी वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। उस समय उनको किसी का डर नहीं रहता। उनके मन में इस बात का विचार तक नहीं रहता कि कोई उनके बारे में क्या कहेगा? जो कुछ भी उनको अच्छा लगता है, और जो उनकी जबान पर आ जाता है, उसको वे कहते रहते हैं। इस एकान्त के अवसर पर बहुत मीठी बातें भी कही जाती हैं और कड़ुई-से-कड़ुई बातें कहने का भी यही मौका होता है।

इन सब अवसरों पर हमारे बालक तो हमारे आसपास रहते ही हैं बालक हमारे साथ रहते हैं। वे मनुष्य तो होते ही हैं। उनके पास उनके अपने कान होते हैं। उनकी अपनी समझ भी होती है। वे हमको बराबर देखते और पहचानते रहते हैं। संगति के कारण उन पर हमारी छाप भी पड़ती रहती है।

जब अलग-अलग अवसरों पर बालक हमको अलग-अलग ढंग से बोलते सुनता है, तो पहले तो वह बड़ी परेशानी महसूस करता है। अभी-अभी इस घर में पिताजी और माताजी, दोनों, आपस में झगड़ रहे थे। लेकिन बाद में बाहर वालों के आने पर वे परस्पर इस तरह बात करने लगे, मानो बड़े प्रेम से बात कर रहे हों, और वे वैसी बातें करने भी लगे। अभी-अभी पिताजी ने जिस भाषा का उपयोग किया, वह उनको शोभा देने वाली नहीं थी। वे अपने नौकर पर नाराज हो रहे थे। लेकिन जब एक दूसरे भाई उनसे मिलने आए, तो वे उनकी बातों को बड़ी शान्ति के साथ सुनते रहे, जबकि उन भाई की बातें तो मन में गुस्सा पैदा करने वाली थीं, पिताजी ने उनसे कुछ भी नहीं कहा। पिताजी विद्यार्थियों के सामने तो एक भी शब्द कम या ज्यादा बोलते नहीं हैं। वे उनके साथ हँसते भी हैं, तो नपा-तुला ही हँसते हैं। लेकिन जब मेरे अमुक काका या अमुक मामा आते हैं, तो पिताजी उनके साथ लगातार बोलते रहते हैं, और खूब खिलखिलाकर हँसते भी हैं। माताजी अभी-अभी तो घर में छोटी बुआजी को गालियाँ दे रही थीं, और जब वे आईं, तो आइए, आइए,

कहकर खड़ी हो गई और उनके लिए दरी बिछा दी! जब पड़ोसी की बेटी अकेली हमारे घर में आती है, तो पिताजी और माताजी, दोनों, उससे कहते हैं : 'भाग जाओ! यहाँ इस समय क्यों आई हो? बस, जब भी मन हुआ, तभी आ जाती हो! अपने घर में तुम्हारे पास कोई काम है या नहीं?' लेकिन जब वह अपनी माँ के साथ आती है, तो काकाजी उससे कहते हैं, 'कौन, चम्पा बहन आई है? कहो, आज इस समय कैसे आई हो? लगता है, आज तुम जल्दी जागी हो। आओ, इधर आओ, मैं तुमको कुछ दूंगा। रोज जल्दी आओगी, तो इस नन्दू के साथ तुमको भी कुछ न कुछ मिलता रहेगा!' पिताजी और माताजी, काकाजी और मामाजी, रमेश भाई और गणेश भाई सब बार-बार अलग-अलग अवसरों पर कैसी अलग-अलग बातें कहते रहते हैं? बालक अपनी आँखों सब कुछ देखता है, और अपने कानों सब कुछ सुनता है। वह मन ही मन सोचता है : 'भला, ये सब ऐसा व्यवहार क्यों करते है?'

धीरे-धीरे बालक इन सब बातों का अभ्यासी बनता जाता है। वह भी कई तरह के स्वांग भरना सीखने लगता है। अलग-अलग लोगों के साथ अलग-अलग व्यवहार करने लगता है। अपने परिवार के बड़ों और बूढ़ों के विसंगत जीवन में से वह विसंगति के, दम्भ के, बाहरी शिष्टता के और अन्दर की अप्रमाणिकता के पाठ सीखने लगता है। इस सबका परिणाम यह होता है कि जैसे हम होते हैं, जैसा हमारा व्यवहार होता है, जैसी हमारी स्थिति होती है, उसके अनुसार हम अपना सब कुछ अपने बालक को देते रहते है। सच तो यह है कि इन सब बातों में बालक हमारा वारिस बन जाता है।

हम अपने जीवन में एकरसता, एकरूपता और एकता के संवाद को उचित और सही स्थान देंगे, अथवा यह मानकर कि बालक के पास उसके अपने कान है, और उसकी अपनी समझ है, इसलिए हम सब कुछ उससे छिपाकर ही करते रहेंगे? जब भी हमारा मन बने, हम धीमे-धीमे इस काम को अपने हाथ में लें, और अपने जीवन के इस प्रश्न का हल हम स्वयं ही खोजें। लेकिन इस बीच हम यह अवश्य याद रखें कि बालकों के भी अपने कान होते हैं।

•

हमारे हुक्म

'रमेश ! सुनो, तुम कहाँ जा रहे हो ? '

रमेश ने कहा : 'छोटे चाचाजी ने कहा है कि उस खिडकी के नीचे छाया है। हम वहीं जाकर खेलें। '

'नहीं, वहाँ मत जाओ। उस कोठरी के कोने के पास बैठो। '

  

'रमेश ! सुनते हो ? तुम यहाँ इस कोने के पास क्यों बैठे हो ? चलो, घर के अन्दर चलो, और अपना अपना पाठ तैयार करो।'

'अम्मा ने हमको यहाँ खेलने की इजाजत दी [redacted]।'

'चलो, पहले पाठ पढ़ने बैठो।'

  

'रमेश ! सुनो, क्या यह पाठ पढ़ने का समय है ? उठो, पहले झटपट नहा लो। गर्म पानी तैयार है।'

'रमेश ने कहा : 'पिताजी ने पाठ पढ़ने को कहा है।'

'पाठ फिर पढ़ लेना। अभी उठो, और नहाने बैठो।'

  

'सुनो रमेश ! अभी नहाना बन्द रखो। पहले इन भाई को भगवान काका का घर दिखा दो। '

'लेकिन दीदी कहती हैं कि नहा कर जाओ।'

'नहीं, अभी जाओ। लौटकर नहा लेना।'

  

यह तो वही मसल हुई कि एक रमेश और सौ हुकमेश ! यानी आदमी एक, और उसको हुक्म सुनाने वाले सौ !

घर में रमेश सबसे छोटा है। दूसरे सब उससे बड़े हैं। सबको लगता है कि अपने बड़ेपन के कारण ही उनको अधिकार है कि जो उनके मन में आए, सो वे रमेश से कहते रहें। यह अधिकार इन सबको भी इसी तरह मिला था। मतलब यह कि जब ये छोटे थे, तो इनको भी इसी स्थिति में से निकलना पड़ा था।

ऐसी हालत मे रमेश के क्या हाल होते हैं, सो हम देख ही चुके हैं। रमेश एक काम करना शुरू करता है कि इतने में उसको दूसरा काम सँभालना पड़ता है। और जब वह दूसरा काम करने बैठता है, तो उसके सामने तीसरा काम आ खड़ा होता है। इस कारण रमेश का एक भी काम पूरा नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में उसको अपने काम से लाभ और आनन्द तो हो ही कैसे सकता है ?

ठीक है कि रमेश का काम बिगड़ता है, लेकिन काम के साथ ही उसका तो मन भी बिगड़ जाता है। वह मन ही मन सोचता है, 'इनमें से किसी में कोई सलीका है ? कोई समझदारी है ? एक कहता है, यह करो। दूसरा कहता है, वह करो ! तीसरा कुछ और ही कहता है। मानो सब के सब बड़े चतुर और सुजान हों !

चूंकि रमेश छोटा है, इसलिए वह किसी से दो टूक बात कह नहीं सकता। वह दूसरों को उनकी गलती भी दिखा नहीं सकता। लेकिन इस सबके कारण रमेश को उसके ढंग की पक्की शिक्षा तो मिलती ही रहती है।

जब हम रमेश को हुक्म देने वालों की तरफ देखते है, तो हमको क्या दिखाई देता है ? हम देखते है कि इस घर मे कोई तंत्र है ही नहीं। इसमे न एक तंत्र है, न संयुक्त तंत्र है, और न स्वतंत्रता ही है। यहाँ तो ऐसा लगता है कि सर्व-तंत्र है, अर्थात् किसी का कोई तंत्र है ही नहीं ! इस विचित्र-से तंत्र मे एक की बात को दूसरा काटता है, और दूसरे की बात को तीसरा काट देता है। इसमे एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना है ही कहाँ ? इसमे किसी

तरह का कोई नियमन कहाँ है ? इसके चलते रमेश को किस बात का शिक्षण प्राप्त होगा ? अन्धाधुन्धी का या व्यवस्था का ? मान-सम्मान का या असम्मान का ?

ऐसी स्थिति आज हमारे अधिकतर घरों में है, और वह तुरन्त ही सुधरनी चाहिए। एक राजा के बदले सब राजा बन जाएँ और सब सबके लिए अपने मनचाहे हुक्म जारी करने लग जाएँ, तो सोचिए कि राज कितने दिन चल पाएगा ? सेठ एक चाहिए। व्यवस्थापक एक चाहिए। सत्ता एक चाहिए। नि सन्देह जहाँ बड़े-बड़े काम करने हों, वहाँ संयुक्त सत्ता रहे, संयुक्त तंत्र रहे, अथवा काम को विभाजित करके विभागीय व्यवस्था खड़ी की जाए। किन्तु यह स्थिति तो कभी पुसा ही नहीं सकती कि छोटों के लिए बाकी के सब बड़े लोग उनके सत्ताधारी बन कर रहने लगें।

या तो रमेश के पिताजी अकेले ही हुक्म जारी करें, और उनके हुक्मों को ध्यान में रखकर रमेश की माँ भी अपनी मर्यादा में रहकर अपनी जरूरत के हुक्म देती रहें। बहन की भी अपनी सत्ता अवश्य हो, पर उसकी भी अपनी एक मानी हुई मर्यादा रहे और, हर सत्ताधारी इस बात का ध्यान जरूर रखे कि उसके द्वारा दूसरे किसी के भी हुक्म का अपमान या निरादर कभी न हो। हर एक सत्ताधारी अपनी मर्यादा को लाँघकर कभी कोई हुक्म जारी करे ही नहीं। यदि यह बात मान ली जाए, तो एक तन्त्र, संयुक्त तन्त्र या प्रजातन्त्र अथवा किसी भी प्रकार का कोई भी तन्त्र, बराबर चल सकता है। फिर रमेश की तरह किसी को किसी से दबने या टकराने की जरूरत नहीं रह जाएगी।

•

बोलने में अतिशयोक्ति

बाबूजी ने रमेश को आवाज दी। बाबूजी के पास जाते समय उतावली में दूध के लोटे को थोड़ी ठोकर लगी, दूध कुछ छलका, और कोई आधा पाव दूध फैल गया।

माँ बोली : 'रमेश ! क्या तुम अन्धे हो गए हो ? तुमको दीखता नहीं है ? देखो, सारा सेर-भर दूध फैल गया !'

❀ ❀ ❀

विजया थाली लेकर भोजन की जगह जा रही थी। अचानक थाली हाथ से छूट गई। थाली झनझना उठी।

सुनकर चाची बोली : 'हाय रे राम ! मेरे तो कान ही फूट गए !' बुआ ने कहा : 'इसी तरह तो ये बरतन टूटते-फूटते हैं। देखो, विजया ! बरतनों का खयाल रखा करो। उनको मज़बूती के साथ पकड़ा करो। क्या तुम्हारे हाथ टूट गए हैं ?'

इस तरह की अतिशयोक्ति के तो कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ऊपर दिए गए इन उदाहरणों में अतिशयोक्ति तो है ही। इनमें बालकों की शक्ति-अशक्ति के कारणों का अज्ञान और समझ का फेर भी है।

चलते-फिरते समय हम कहीं टकराएँ नहीं, और ठोकर खाएँ नहीं, इसके लिए चलने-फिरने की अपनी आदत पर हमारे पूरे क़ाबू की ज़रूरत रहती है। नौसिखिया साइकल-चालक अपनी साइकल को टेढ़े-मेढ़े ढंग से चलाकर दुर्घटना का शिकार बन जाता है। इसलिए कि हैण्डल पर उसका पूरा क़ाबू होता नहीं। अपने शरीर का तौल सँभालने के लिए ज़रूरी है कि बालक को कसरत और क़वायद का अच्छा अभ्यास हो।

फौज को तालीम इसीलिए दी जाती है कि वह सामूहिक रूप से व्यवस्थित काम कर सके।

यदि हम बालक को अपना शरीर सन्तुलित बनाए रखने का प्रशिक्षण नहीं देंगे, अवसर नहीं देंगे, और उसकी भूलें ही निकालते रहेंगे, तो न बालक अपनी भूलें सुधार पाएगा, और न हमारे मन का असन्तोष ही दूर हो सकेगा।

अतिशयोक्ति के साथ बोलते रहने की हमारी आदत के कारण बालक हमारी बातों को कोई नैतिक महत्व नहीं दे पाता। उसके मन में हमारे बारे में सवाल उठते रहते हैं कि भला ये बड़े-बूढ़े लोग इस तरह झूठ क्यों बोलते हैं? भाषा की दृष्टि से भी इस प्रकार की अतिशयोक्ति को क्षमा नहीं किया जा सकता। अपने बड़ों को इस तरह बोलते देखकर बालक भी बोलने के बारे में लापरवाह बनने लगता है। जब बालक को विश्वास हो जाता है कि हम हमेशा अतिशयोक्ति-भरी बातें ही कहते रहते हैं, तो उस हालत में वह हमारी ऐसी बातों की उपेक्षा करने लगता है। धीरे-धीरे उसको इसी की आदत पड़ जाती है। शुरू में जो बात उसको असत्य लगा करती थी, जो अतिशयोक्ति उसको अखरा करती थी, बाद में जब वह स्वयं भी उसका आदी बन जाता है, तो वैसी ही अतिशयोक्ति-भरी बातें वह दूसरों के साथ और अपने बालकों के साथ भी करना सीख जाता है। इस तरह अतिशयोक्ति की परम्परा बराबर बनी रहती है। यदि हम थोड़ी सावधानी रखें, तो हम और हमारे बालक, दोनों ही, इस प्रकार की अतिशयोक्ति से और उससे होने वाली हानियों से बच सकते हैं।

●

क्या हम बोलना जानते हैं ?

हम बोलना जानते हैं, इसीलिए तो हम बोलते रहते है। सुनने वालो को अर्थ समझना ही पड़ता है, इसलिए वे समझ लेते है। लेकिन सवाल यह है कि क्या हम ठीक से बोलना जानते हैं ?

क्या आपने उतावली आवाज मे सटर-पटर बोलने वाले सेठजी को कभी बोलते सुना है ? *आपको उनका बोलना अच्छा तो नही लगता, फिर भी* आप उनकी बात को समझ तो लेते हैं। आपके मन पर उनकी कार्य-शक्ति का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता।

आपने अगड़-बगड़ बोलने वाले किसी वक्ता को बोलते सुना है ? आप को उनकी बातो मे मजा तो नही आता, फिर भी क्योंकि व्याख्यान का विषय उपयोगी है, इस कारण, अथवा शिष्टता के कारण, आप बैठे हुए है, और वक्ता के भाषण को सह लेते हैं। आपके मन पर वक्ता के विचारों का पूरा प्रभाव नहीं पड़ता, और उसका आधा भाषण बेकार जाता है। वक्ता आपके मन में जो भावना जगाना चाहता है, उसको वह जगा नही पाता।

ऐसे और कई उदाहरण आपके ध्यान मे होगे ही। वक्ता और सेठजी की तरह ही हम माँ-बाप और शिक्षक जिस अरुचिकर ढंग से बोलते है, क्या आपने कभी सोचा है कि बालकों पर उसका प्रभाव कैसा पड़ता है ?

जब कोई अच्छे, संस्कारशील माता-पिता अपने बालको के साथ बात करते होते हैं, यदि उस समय आप वहाँ हाजिर रहें, तो आपको पता चलेगा कि वे माता-पिता बड़ी स्पष्टता के साथ, मिठास के साथ, धीरज के साथ और धीमी आवाज मे बोलते है। अपने हृदय के भावों को व्यक्त करने वाले शब्दों को चुनकर वे अपनी बात कहते हैं। *बालकों के साथ बात करते समय*

उनको इस बात का ध्यान बना रहता है कि बालक अभी कुछ ही समय पहले इस दुनिया में हमारे मेहमान की तरह आए है। जिस तरह अच्छे और चतुर मेजबान सब कुछ स्वयं समझ लेने का सारा भार अपने मेहमानों पर नहीं डालते, अच्छे माँ-बाप भी वैसा ही करते हैं। नए मेहमान की कठिनाई को समझकर, नई भाषा सीखने वाले की मुश्किल को ध्यान में रखकर वे बड़ी सावधानी के साथ उससे बात करते हैं। बालक उनकी बातों को भली भाँति समझ सकते है, इसलिए माता-पिता के और बालकों के बीच कोई गलतफहमी पैदा नहीं होती। हम अपने अनुभव से जानते हैं कि ठीक से भाषा न समझने के कारण कई गलतफहमियाँ होती रहती है।

भौंडे ढंग से भाषा का उपयोग करने वाले माता-पिता और बालको के बारे में आपको इससे बिलकुल उलटा ही अनुभव हुआ होगा। आपको इन सब बातो का अनुभव है ही, इसलिए यहाँ मैं इनकी चर्चा नहीं कर रहा हूँ।

मान लीजिए आप भविष्य के किसी एक विद्यालय में पहुँच गए है। उस विद्यालय के शिक्षक इस तरह बोलते होगे कि उनकी सुस्थिर, गम्भीर और निर्मल वाणी, व्यवस्थित रीति से, शुद्धि-पूर्वक, धीमी और ताल-बद्धता के साथ बोलने की उनकी रीति बालक को अपने आप शान्त और अभिमुख बनाती होगी। शिक्षक की बात को बालक थोड़े ही श्रम से समझ लेते होंगे। चूँकि कही गई बात प्रिय लगने वाली वाणी में कही गई है, इसलिए सुनने वालो को वह प्रिय लगती है और बालकों में प्राण जगाने वाली वाणी की शक्ति के प्रत्यक्ष दर्शन उनको होते है।

बालक अपने माता-पिता की नकल कम ही उतारते है, क्योंकि किसी ने उनको सिखा दिया होता है कि अपने माता-पिता की नकल नहीं उतारनी चाहिए। अथवा माँ-बाप खुद ही अपने बच्चो से कह देते है : 'हमारी नकल मत उतारो। नकल उतारना उचित नहीं।' अगर अपनी मूर्खता के कारण माँ-बाप यह मान लेते है कि इस तरह बालको की सहज मनोवृत्ति को व्यक्त करने का रास्ता बन्द कर देने से वे खुद अपनी नकल उतारने लायक रह नहीं गए हैं, तो वे झख मारते है या जरूरत से ज्यादा भोले हैं। बालक अपने

माँ-बाप के नाम टालकर और दूसरे नाम लेकर नकल तो उतारते ही रहेंगे। लेकिन चूँकि शिक्षकों की नक़ल उतारने में माता-पिता अपनी रुचि दिखाते है, इसलिए बालक मुक्त मन से अपने शिक्षकों की नक़ल उतारते रहते हैं। ऐसी नक़ल उतारते समय बालक हूबहू यह दिखाते हैं कि शिक्षक किस तरह बोलते हैं, और बोलते समय उनकी कैसी भद्दी और भोंडी मुख-मुद्राएँ बनती रहती है।

यदि ऐसे अवसरों पर शिक्षक स्वयं उपस्थित रहकर देखें, तो उनको पता चले कि अपने बालकों या विद्यार्थियों के सामने उनको किस तरह बोलना चाहिए। माँ-बाप चाहे, तो शिक्षकों की नकल उतारते देखकर वे उससे बहुत-कुछ खास और समझ सकते हैं।

अन्त में मुझको निवेदन यही करना है कि हम सब विचार करें कि हमको आपस-आपस में, बड़ों के साथ, छोटों के सामने और बालकों की हाजिरी में अच्छी तरह बोलना आता है या नहीं ?

●

ख़ानगी बातें

मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा : 'जब हम घर के दो आदमी पास बैठकर आपस में बातें करते हैं, तो मेरा छोटा भाई दूर से कान लगाकर उनको सुनने की कोशिश करता है। इसके लिए वह अपने हाथ का काम छोड़ देता है। काम करने का दिखावा करता है। अकसर किसी-न-किसी बहाने से वह हमारे पास आ जाता है, और किसी चीज़ को खोजने अथवा चित्र देखने का दिखावा करके हमारी बातें सुनने की कोशिश करता है। कहिए, मैं इसका क्या उपाय करूँ ?'

मैंने अपने मित्र से कहा : 'इसका उपाय यह नहीं है कि आप खानगी बातें न करें, अथवा आप इस बात का दिखावा करें कि आप कोई खानगी बातें कर ही नहीं रहे हैं। खानगी बात का यह अर्थ है ही नहीं कि वह हमेशा तीसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाने वाली, दाँव-पेच वाली या खटपट-भरी ही हो। तीसरे आदमी के लिए वह बात खानगी मानी जा सकती है, जो दो आदमियों के जानने लायक है, तीसरे का उसके साथ कोई लेना-देना नहीं है, जिसमें तीसरे का हित नहीं है, अथवा जिसको जानने से तीसरे को हानि पहुँच सकती है, या वह बात तीसरे के लिए हितकर होने पर भी उसकी जानकारी उसके लिए अहितकारी है। ऐसी बातें खानगी तौर पर ही होनी चाहिए। हर एक धन्धे में कुछ ऐसी बातें होती ही हैं, जिनकी जानकारी तीसरे व्यक्ति को देनी ही नहीं है। बीमार लोग डॉक्टर को अपनी जो बातें कहते हैं, वे खानगी ही होती हैं। डॉक्टरों की अपनी यह एक मर्यादा ही है कि उनको खानगी ही रखना होता है। किसी ने किसी और को कोई बात विश्वासपूर्वक कही हो, तो वह बात भी खानगी ही होती है। निर्दोष से निर्दोष बात भी यदि दो के लिए या दो के बीच होती है, तो वह भी खानगी ही है।

माँ अपनी बेटी को उसके जीवन के लिए महत्त्व की बातें खानगी में ही कह सकती है। छात्रावासों के अधीक्षकों या गृहपतियों को अपने छात्रों के साथ की बातचीत खानगी में ही करनी चाहिए। हर एक व्यवस्थापक को अपने काम के साथ जुड़ी जरूरी बातें अपने कार्यकर्ताओं के साथ खानगी ही में करनी होती हैं। इस तरह अनेक अवसरों पर अनेक प्रकार की बातें खानगी होती हैं और निःसन्देह वे खानगी तौर पर ही की जानी चाहिए। जहाँ प्रतिपक्ष को जानकारी देना धर्मरूप ही हो, वहाँ बात को खानगी रखना जिस प्रकार पाप है, उसी प्रकार जहाँ दो के बीच की बात को तीसरा न जाने, ऐसी मर्यादा हो, वहाँ तीसरे को उसकी जानकारी देने में अथवा तीसरा व्यक्ति जान जाए, इस तरह से बात करने में पाप है। बालकों को ऐसा सामाजिक आचार सिखाना उचित है। ऊपर जिस बात की चर्चा की गई है, उस प्रकार की कोई भी बात हो, तो हमें बालक से कह देना चाहिए : 'यहाँ खानगी बातें हो रही हैं, तुम जरा बाहर चले जाओ।' अलग-अलग ढंग से हम बालक को यह अनुभव करने दें कि खानगी बात यानी किस प्रकार की बात। बालक के साथ उसके निजी सवालों की चर्चा करते समय हम उससे कहें : 'यह बात खानगी है। दूसरों को बताने-जैसी नहीं है। यह तुम्हारे अपने ही काम की है।' इस तरह हम उसको खानगी बात के स्वरूप की जानकारी दे सकते हैं। घर-परिवार में ऐसे कई अवसर आते हैं, जिनकी मदद से हम बालक को यह समझा सकते हैं कि कौन-सी बात सार्वजनिक है, और कौन सी खानगी है। बालक को इतनी बात समझा देने के बाद हम उससे कहें : 'देखो, दूसरों की बातें हमारे काम की नहीं हैं। वे उनके ही अपने काम की हैं, इसलिए हमें उनको सुनने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। फिर भी अकसर हम कान लगाकर बातें सुनते हैं। चोर की तरह छिपकर भी बातें सुनते हैं। हमारे लिए यह अच्छा नहीं है। इसमें सभ्यता नहीं है। इसको कुलीनता तो कहा ही नहीं जा सकता। खानदानी बालक ऐसे काम करते ही नहीं। जिस तरह हमारी अपनी खानगी बातें होती हैं, उसी तरह दूसरों की भी होती हैं। अगर हम नहीं चाहते कि हमारी खानगी बातें सब सुनें, तो दूसरों की खानगी बातें जानने की इच्छा करना अनुचित ही है।

दुनिया की बहुतेरी बातें खानगी रहती हैं। अगर वे सार्वजनिक हो जाए, तो उनके कारण संकट खड़े हो सकते हैं। जो लोग ऐसी बातों से जुड़े होते हैं, उनको इन बातों को गुप्त रखने की शर्त क़बूल करनी होती है, नहीं तो उनको दूसरी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि बाहर का लोकभय न रहे, तो बहुतेरी बातें प्रकट होती रहें, और उनसे बहुतों को बहुत मूल्यवान ज्ञान भी मिलता रहे। लोकभय के कारण ऐसा बहुत-सा मूल्यवान साहित्य अप्रकट ही रहता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि केवल बाहर के भय के कारण ही बातों को खानगी रखना पड़ता है। बाहर का भय न होने पर भी कुछ बातें इतनी पवित्र होती हैं, इतनी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं और इतने गहरे रहस्य वाली होती हैं कि जो उनको जानने के अधिकारी नहीं हैं, वे उनको न जान सकें, इसके लिए उनको खानगी रखना ज़रूरी हो जाता है। इसी न्याय के अनुसार प्रायः महापुरुषों के जीवन से जुड़ी बिलकुल निर्दोष और अत्यन्त भव्य बातों को भी बालकों से गुप्त रखा जाता है। उनको गुप्त रखना ही चाहिए। इसमें बालकों के अपमान की कोई बात नहीं। इन्हें उनसे चुराने की भी कोई बात नहीं। झूठे उदाहरण दिखाने की भी बात नहीं। इसी तरह जीवन के सब विभागों में बहुत-सी ऐसी रक्षण-योग्य बातें हैं, जिनको बालकों के सामने प्रकट नहीं किया जा सकता।

बालकों का भी अपना एक जीवन होता है। उनकी भी अपनी खानगी बातें होती हैं। वे अपने कई गन्दे और घिनौने काम हम से छिपाकर करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि अगर बड़ों को उनकी जानकारी हो गई, तो वे उन पर नाराज होंगे या उनको पीटेंगे। यदि हम बालकों का विश्वास प्राप्त कर सकें, 'ऐसी बातें तो तुमको कभी करनी ही नहीं चाहिए। करोगे, तो मार खाओगे।' आदि बातें कहकर हम अपने बालकों को खानगी की दिशा में मोड़ें, तो वे हमारे साथ ढेर सारी बातें साफ-साफ कर सकेंगे। जब तक बालकों की दृष्टि से उनकी बातें निर्दोष हैं, करने लायक हैं, छिपाने लायक नहीं हैं, तब तक हम उनको गुप्त रखने के लायक न बनाएं। उनमें हम अपनी शरम या अश्लीलता न देखें। इन बातों को छोड़कर भी ऐसी दूसरी कई बातें हैं, जिनको बालक एकान्त में गुप्त रूप से करना चाहते हैं। इसे

उनका इरादा बात को छिपाने का ही नहीं होता। कुछ बालक इतने शरमीले यानी मुंह छिपाकर रहने वाले होते हैं कि वे कहने लायक बातें भी हमसे कह नहीं सकते, अथवा उनको विशेष रूप से छिपाए रखते है। कुछ सुकुमार प्रकृति वाले बालक जिस तरह अपने नाम और काम आदि की बातें दूसरों से छिपाते रहते है, उसी तरह वे अपनी बातें भी छिपाए रहते है। ऐसे बालक बात छिपाने वाले बालक कहे जा सकते हैं। यदि थोड़ा उत्साह दिलाकर हम उनको अपने निकट लेंगे, तो वे अपनी सारी बातें हमसे कहेंगे। परिचय के अभाव में भी बालक हमसे अपनी बातें छिपाते रहते है। बालकों की बातों के प्रति हमारी उपेक्षा या हमारी बेकदरी भी हमको प्रायः बालकों से दूर रखती है। अकसर बात कहने का कोई अवसर ही नहीं आता, इसलिए भी बात मन की मन ही में बनी रहती है, और इससे उसके खानगी होने का आभास होता है। प्रायः खुले दिल से अपनी बात कहने वाले बालक को हमने टोका होता है, इसलिए भी ऐसे अनुभव के बाद वह अपनी बात हमसे छिपाने लगता है। हमको उदारता-पूर्वक बालक से ये सब बातें करते रहना चाहिए। उसकी खानगी बातों के प्रति हमको अपना सम्मान प्रकट करना चाहिए। उनमें हस्तक्षेप न करके उनकी पवित्रता को गम्भीरता-पूर्वक स्वीकार करना चाहिए। बालकों की बातों को जानने के लिए हम अपना व्यवहार खुफिया पुलिस का-सा न रखें, और उनको अपनी खानगी बातें कहने की स्वतन्त्रता दें, तो वे हमारे जानने लायक बातें हमसे खुले दिल के साथ कहेंगे ही। वे खानगी और प्रकट के भेद को समझेंगे ही। वे हमारी खानगी बातों का भी सम्मान अवश्य करेंगे, और कान लगाकर हमारी बातें सुनने की इच्छा भी वे अपने मन में नहीं रखेंगे।

●

वालक का दृष्टिकोण

'सुनो, दिनु ! यह खड़िया मिट्टी किसने बिगाड़ी ?'

दिनु ने कहा : 'मैंने तो खड़िया मिट्टी से चित्र बनाए हैं।'

माँ पूछती हैं : 'सुनो, विजया ! वहाँ बैठी-बैठी बरतनों को क्यों पछाड़ रही हो ?'

विजया ने कहा : 'माँ ! मैं बरतन पछाड़ नहीं रही हूँ। मैं तो उनकी आवाज सुन रही हूँ।'

'क्यों भैया ! तुम इन खिलौनों को क्यों तोड़ रहे हो ?'

'जी, मैं इनको तोड नहीं रहा। मैं तो देख रहा हूँ कि इनके अन्दर क्या है ?'

'सुनो, रमेश ! तुम वहाँ निठल्ले क्यों बैठे हो ?'

'जी, मैं निठल्ला नहीं बैठा हूँ। मैं तो यहाँ यह देख रहा हूँ कि ये चीटियाँ अपने बिलों में कैसे जा रही है।'

यदि हम माता-पिताओं और बालकों के बीच होने वाली बात-चीत को कभी कान देकर ध्यान से सुनेंगे, तो हमको ऐसे अनेक संवाद सुनने को मिलेंगे।

जब हमारे बालक हमको इस तरह के अटपटे जवाब देते हैं, तो या तो हम उनके इन जवाबों पर ध्यान ही नहीं देते, या इनको बालकों की बालिशता मानकर उनकी ऐसी बातों को हँसी में उड़ा देते है। अकसर बालकों के ऐसे जवाबों से हम चिढ़ जाते है और उनको डाँट-डपट देते हैं। लेकिन हम इस बात पर शायद ही कभी ध्यान देते हैं कि बालकों ने ऐसे जवाब क्यों दिए ?

यदि हम इस पर थोड़ा विचार करेंगे, तो हमको पता चलेगा कि हमारी और बालक की दृष्टि में कहाँ और कैसा अन्तर है। किन्तु इस तरह सोचने के लिए हमारे पास न तो फुरसत है, और न हमको इसकी कोई परवाह ही है। हम तो मानते हैं कि भला, बालकों की ऐसी निकम्मी बातो के बारे मे सोचा भी क्या जाए? अपनी उतावली के कारण, या अपने बड़प्पन के कारण, हम अपने बच्चों की बातों को सुना-अनसुना कर देते हैं, और बालको की सही मंशा को समझने के बदले उनकी बातो में अपने विचारों का आरोपण करके, अपने इन आरोपित विचारों के लिए हम बालको को डाँटते-डपटते रहते हैं!

जब बालक खड़िया मिट्टी का उपयोग करता है, तो हम उसको उसका दुरुपयोग मानते हैं, क्योंकि हमारी निगाह मे तो उसका अमुक एक प्रकार का उपयोग ही सही उपयोग होता है। खड़िया मिट्टी से बालक जो टेढ़ी-तिरछी लकीरें खींचता है, हमारी निगाह में वे निरर्थक होती है, जबकि बालक की निगाह मे वे उसके बनाए हुए चित्र है। हमको इसमे अपव्यय दीखता है, जबकि बालक की दृष्टि में यह खड़िया मिट्टी का कीमती उपयोग है।

बालक जूतों से खेलते हैं। वे उनको एक कतार में रखते हैं। उनमे अपने पैर डालकर चलते है। दूसरों के जूते पहनकर वे मन-ही मन मुसकुराते हैं। हम उनके इस काम मे असभ्यता, गन्दगी और गलती देखते है। बालकों की दृष्टि मे जूते ऐसे साधन है, जिनसे वे एक-दूसरे की तुलना करते हैं, एक-दूसरे के बीच का फरक पहचानते हैं, उनके माप का अन्दाज लेते है, हलके और भारी का भेद पहचानते हैं। जूतों के साथ खेल कर बालक उनके छोटे या बड़े होने का अन्दाज लेते हैं। बालक खुद ऐसे जूते पहन कर चलते हैं, और चलते-चलते गिरने और उठने का आनन्द लेते है। इस खेल से उनको अपने शरीर पर अपने काबू का पता चलता है। जूतो के फीते बांधने-खोलने और बटन लगाने और खोलने में उनकी आँखो को और अँगुलियों को कसरत का लाभ मिलता है।

इस तरह देखें, तो बालको की दृष्टि से उनके छोटे और निरर्थक-से कामो मे भी बहुत अर्थ भरा रहता है, जब कि हमको उनमे कोई अर्थ दीखता

ही नहीं। असल दृष्टि हमारी नहीं, पर बालक की होनी चाहिए। बालक की दृष्टि से ही हमको उसकी गतिविधियों को देखना और समझना चाहिए। जिसके पास अपनी आँख है, उसके पास अपनी दृष्टि भी होनी चाहिये। जिसके पास अपनी जीभ है, उसको अपने स्वाद का खयाल रखना चाहिए। जिसके पास बुद्धि है, उसको अपनी बुद्धि के उपयोग का महत्व समझना चाहिए। जो दूसरों को अपनी आँख देकर उनकी आँख बन्द कर देते हैं, जो दूसरों को अपनी बुद्धि का अस्तर देकर उनकी बुद्धि को ढक देते हैं, वे दूसरों की उन्नति के द्रोही होते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम बालक की दृष्टि को समझें। इसी में बालक का उद्धार निहित है। जगत् को और जीवन को देखने-समझने की बालक की भी अपनी एक दृष्टि होती है, और होनी चाहिए। इस बात को स्वीकार करके, हम बालक की दृष्टि के विकास में बाधक न बनें, बल्कि सहानुभूति-पूर्वक उसकी दृष्टि को समझने का प्रयत्न करें, और बालक को उसकी रुचि के काम करने दें, तो हम बालक को उसकी दृष्टि से समझ सकेंगे, और बालक भी हमारी दृष्टि को समझ सकेगा। इस तरह एक-दूसरे की दृष्टि को समझते रहने से आपस का विश्वास अधिक बढ़ेगा। इसके फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट आएँगे, और इस कारण दोनों अधिक आगे बढ़ सकेंगे।

बालकों को क्या पसन्द है ?

बालको को क्या पसन्द है ? व्यवस्था या अव्यवस्था ? शान्ति या कोलाहल ? काम या निकम्मापन ?

आमतौर पर लोग यह मानते है कि बालको को अव्यवस्था अच्छी लगती है, क्योंकि बालक अव्यवस्थित रहते है, और वे अव्यवस्था उत्पन्न भी करते हैं। लेकिन दरअसल यह खयाल गलत है। बालको को तो व्यवस्था ही पसन्द होती है, क्योंकि मनुष्य का मन व्यवस्था-प्रिय होता है। अव्यवस्था में वह घुटन का अनुभव करता है। उससे उसको परेशानी होती है। अव्यवस्था के चलते उसको कुछ सूझता ही नही। हम घर मे बालक के लिए सुव्यवस्थित वातावरण उत्पन्न करते नही, और खुद छोटा होने के कारण बालक बेचारा घर की बड़ी अव्यवस्था को व्यवस्थित कर नहीं पाता। इसलिए अपनी इस आकुल-व्याकुल स्थिति मे उसको जैसे-तैसे अपने घर की प्रचलित अव्यवस्था के बीच ही जी लेने का रास्ता खोज लेना होता है। और इसी को हम बालक की अव्यवस्था कहने लगने हैं ! बालक की अव्यवस्था तो उस बेचारे को परेशान किए रहती है, और वह तो हमारे अव्यवस्थित वातावरण मे से ही उत्पन्न होती है !

अकसर लोग यह मानते है कि बालको को तो हल्ला-गुल्ला और गड़बड़-घोटाला ही अच्छा लगता है। उनको शान्ति अच्छी लगती ही नहीं। वे कही गुपचुप बैठना जानते ही नही, क्योंकि वे स्वभाव से ही चचल होते है। लेकिन यह धारणा गलत है। बालक तो हल्ले-गुल्ले मे और गड़बड़-घोटाले से बहुत परेशान रहता है। उसके नन्हे-नन्हे ज्ञान-तन्तु जोर-शोर वाली आवाज से बड़ी बेचैनी अनुभव करते है। उन पर उसका बहुत जोर पड़ता है। रोज-रोज न जाने कितनी निरर्थक आवाजें उसके कानो मे बेरहमी के

साथ टकराती ही रहती हैं। गली-मुहल्ले के और घर के लोग बहुत जोर-जोर से बातचीत करते ही रहते हैं। पास-पड़ोस के लोग भी चीखते-चिल्लाते रहते है। लोग अपने दरवाजो को खट-खटाते रहते है। बरतनो को बराबर पटकते और झनझनाते रहते हैं। और यह सब कुछ बेमतलब और बिला वजह होता ही रहता है! इस हल्ले-गुल्ले से बालक का दिमाग थक जाता है। इस हो-हल्ले के बीच अपनी बात दूसरो को सुनाने के लिए बालक को अपनी नन्ही-सी आवाज को बहुत तानना और ऊँचा उठाना पड़ता है। उसको नाहक अपना गला दुखाना पड़ता है। लेकिन बालक बेचारा करे भी तो क्या करे? इस हल्ले-गुल्ले और गड़बड़-घोटाले के बीच ही जैसे-तैसे जी लेने का रास्ता उसको खुद ही खोज लेना होता है। और रास्ता उसको यही मिलता है कि दूसरो के साथ-साथ वह भी हल्ला मचाता रहे और गड़बड़ी फैलाता रहे! इस सबके कारण बालक के ज्ञान-तन्तु थक तो जाते ही है।

अकसर लोग यह मानकर चलते है कि बालको को काम करना अच्छा लगता ही नही है। इसलिए उनसे जबरदस्ती काम करवाते रहना चाहिए। लेकिन लोगो की यह धारणा बिलकुल गलत है। बालक तो स्वभाव से ही कर्म-प्रिय होते है। किन्तु अपने बड़ो और बूढ़ो की इस दुनिया मे उनको उनकी अपनी रुचि का काम करने की कोई सुविधा मिलती नही। काम के लिए जरूरी साधन भी सुलभ होते नही। काम करने के लिए कोई स्वतंत्र जगह भी उनको नसीब होती नही। तिसपर बड़ो की ललकार या डाँट-फटकार तो बालको को कभी भी सुनाई पड़ सकती है: 'सुनो, तुम वहाँ क्या कर रहे हो? उनको हाथ क्यो लगा रहे हो? इसको क्यो उठा रहे हो?' ऐसी अनिश्चितता के बीच ही बालको को अपने सारे काम करने पड़ते हैं। यही कारण है कि आगे चलकर बालक धीरे-धीरे काम से जी चुराने लगते हैं, और वे निकम्मे बनने लगते है, तो भला, इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है? जिनको बालको की शक्ति मे विश्वास ही नहीं है, वे स्वयं यह कैसे देख और समझ सकते हैं कि बालक क्या-क्या करना जानते है, और कितने काम वे कर लेते हैं?

बटन आगे

अक्सर फैशन सुविधा या असुविधा की परवाह नहीं करती। उलटे, वह तो हमको तकलीफ़ ही देती है। फैशन के मूल में कोई विचार होता ही हो, सो बात भी नहीं। लेकिन विचारशील लोग भी फैशन के शिकार बन जाते हैं। कई सयाने लोगों को भी फैशन में खूबी, खूबसूरती और उपयोगिता आदि के दर्शन होते हैं, और इसी के फेर में पड़ कर वे नुकसान पहुँचाने और तकलीफ देने वाली फैशन की तरफदारी करने लगते हैं।

जो माता-पिता फैशन के फेर में पड़ते हैं, उनके बालकों को भी फैशन के फन्दे में फँसना पड़ता है। इसमें अचरज की तो कोई बात है ही नहीं। वैसे भी बालक अपने माता-पिता के फन्दे में तो फँसे ही रहते हैं।

जो चीजें माता-पिता को फैशनेबल और खूबसूरत लगती हैं, वे बालकों पर लदती ही रहती हैं। माँ-बाप जिन चीजों को खूबसूरत कहते हैं, पास-पड़ोस के लोग भी जिनको खूबसूरत मानते हैं, बालक भी उन चीजों को वैसी ही मानने लगते हैं। इस कारण बालक खुद भी उनके फन्दे में फँस जाते हैं। फिर तो माँ-बाप भी यह कह सकते हैं कि बालक को जो अच्छा लगता है, सो तो उसको करने दिया जाए न? लेकिन असल में इसकी तह में तो फैशन के शिकार बनने वाले माँ-बापों की और बालकों की अपनी मानसिक दासता ही होती है।

आजकल बालकों को फ्रॉक वगैरा जो कपड़े पहनाए जाते हैं, उनमें बटन, हुक या पीछे पीछे लगाए जाते हैं। यह आज की फैशन का ही एक नमूना है। यह फैशन कहाँ से आई, किसने चलाई, इसका कोई अन्दाजा किसी के पास है नहीं, फिर भी बालकों को बटन पीछे रखना पसन्द है। माँ-

बाप भी, पीछे बटन वाले फ्रॉक ही सिलवाते या खरीदते हैं। दरजी इस काम के लिए तैयार रहते ही है। फैशन चलाने वाले कोई विदेशी होते हैं। हम बड़ी ललक के साथ इन फैशनो को अपनाते है, और हमारे दरजी लोग इनको अमली रूप देते रहते है। लेकिन यहाँ हम इन तीनो की बात नही करेंगे। यहाँ तो हम यह तय करें कि इस फैशन के फेर मे पड़े हुए अपने बालको को हम इसमे से कैसे छुड़ाएँ ?

जब-जब भी हमारे बालको को फ्रॉक के ढंग वाले कपड़े पहनने होते हैं, तब-तब उनको अपने माता-पिता की शरण मे जाना पड़ता है। 'माँ ! बटन लगा दीजिए !' 'पिताजी ! हुक लगा दीजिए !' की पुकार मचानी होती है। माता-पिता दोनो बहुत काम मे लगे होते हैं। वे भला अपने बच्चो का यह काम कैसे करें ? और कब करें ? इसलिए माँ डपटकर अपनी बड़ी बेटी से कहती हैं : 'सुनो, मुन्नी ! तुम इसके बटन लगा दो !' कभी वे अपने नौकर से कहती है : *'सुनो, जरा इसके बटन तो लगा दो !'* हाथो के रहते हुए भी अपग बना बालक खड़ा रहता है। जब कोई बटन लगा देता है, तब माना और कहा जाता है कि बालक ने कपड़ा पहन लिया है। तभी बालक कपड़ा पहनकर बाहर जा पाता है। अपना कपड़ा पहनने के लिए उसको किसी-न-किसी की मदद तो लेनी ही पड़ती है। पीछे बटन वाले-फ्रॉक का अपना शौक़ पूरा करने के लिए बालक को दो बार दो लोगो की गुलामी सहन करनी पड़ती है।

यह तो हुई फ्रॉक पहनने की बात। लेकिन जब फ्रॉक गीला हो जाता है, तो बालक उसको अपने हाथों उतार नही सकता। जब कभी पसीना छूटने लगता है, तो बालक अपना फ्रॉक उतारना चाहता है। लेकिन बालक खुद उसको *उतार नही पाता। अगर फ्रॉक कही से सुलग गया, तो बालक जलने* लगता है। पर वह अपना फ्रॉक खुद कैसे उतार सकता है ? इस तरह पीछे की तरफ लगे हुए बटन बालक को हैरान और परेशान करते हैं। फिर भी बालक फ्रॉक पहनना पसन्द करता है, क्योंकि उसके माता-पिता को फ्रॉक पहनाना अच्छा लगता है। क्योंकि माता-पिता को दूसरे देश की और दूसरे लोगो की फैशन अच्छी लगती है।

फैशन का अपना हाल यह है कि उसको जैसे भी चलाना चाहो, वह चलती रहती है, कुछ इज्जतदार और अच्छे-भले लोग, अमुक बिरादरी के या तमुक बिरादरी के कुछ लोग जब कोई चीज चलाते हैं, पहनते हैं, बरतते हैं, तो उनको देखकर आम लोग भी वैसा ही करने लगते है। इसलिए आम लोगों की अगुवाई करने वालों को चाहिए कि वे अच्छी चीजों का चलन चलाएँ। लेकिन बहुतेरे अगुवा लोग अक्ल के दुश्मन बनकर जब गलत फैशन चला देते हैं, वे अपने आप लोगो को गहरे गड्ढे मे उतार देते हैं।

सयाने और समझदार लोगो को चाहिए कि फैशन का मोह छोड दे। जो भी काम वे करें, खुद ही सोच-समझकर करें, और यह देखें कि जिस चीज को वे चलाते है, वह चीज आराम देने वाली, सुहाने वाली और पोसाने-वाली है या नही ? समझदार लोग इस बात की फिकर नहीं करते कि दूसरे लोगो से वे कुछ अलग दिखाई पड़ेंगे। वे तो फिकर इस बात की रखते हैं कि सही और मुनासिब क्या है ?

हमारा जो भी होना हो, सो होता रहे, पर अपने बालकों को हम अपने पीछे-पीछे न चलाएँ। हम उनकी सुविधा का और उनके आराम का, ध्यान रखें, उसका अध्ययन करें, और जो चीज उनके लिए उपयोगी लगे, सो बनवा दें। वैसे तो छोटे बालक भी इस बात को आसानी से समझ सकते हैं कि कौन-सी चीज उनके काम की है और कौन-सी उनको नापसन्द है। हम उनकी जरूरत की चीज उन्ही से पसन्द करवाएँ और फैशन के नाम पर अपनी कोई चीज उन पर न लादें।

हमारे बाल मन्दिर में 'बटन आगे' की हाजिरी ली जाती है। बटनों की जाँच की जाती है। बटन आगे न लगे हों, तो लगाने को कहा जाता है। माता-पिता के नाम चिट्ठी भेजी जाती है कि आगे जब नए कपड़े सिलवाए जाएँ तो उनमे बटन आगे लगवाने का ध्यान रखें। हम को सन्तोष इस बात का है कि कुछ माता-पिता आगे बटन वाले फ्रॉक, कब्जे, कुरते वगैरा सिलवाने लगे है। कहना होगा कि ऐसा करके उन्होंने अपने बालकों की बढ़िया सेवा की है।

•

पहले और अब

पहले लीला को पीने के लिए पानी देना पड़ता था। पानी देने में देर होती, तो लीला रोने लगती। मैं काम में लगा होता, और लीला 'पानी दो, पानी दो!' की रट लगाती, तो मैं उस पर नाराज हो उठता। मेरे पानी न देने पर लीला को प्यासा रहना पड़ता, और वह मुझको परेशान करती रहती। लीला को बार-बार पानी देकर मैं भी उकता उठता और कहता : 'भई, यह लड़की तो अजब ही है। बार-बार पानी माँगती ही रहती है।'

उन दिनों पानी से भरा मटका ऊँचे पनियारे पर रखा रहता था। लीला के हाथ मटके तक पहुँच नहीं पाते थे। पीने के पानी के लिए उसको मेरा सहारा लेना पड़ता था। वह परावलम्बी थी, इसलिए अपने हाथों और पैरों के रहते हुए भी वह अपंग बनी रहती थी। अपनी इस अपंग बेटी की चाकरी करने में मेरी परतंत्रता भी बढ़ती रहती थी। इन सब बातों के न होने पर भी मैं अपने बच्चों के बीच अप्रिय तो बनता ही रहता था।

अब पानी से भरा मटका नीचे रख दिया है। उसके पास एक गिलास रखा रहता है। पानी पी चुकने के बाद गिलास को धो डालने की बात लीला को समझा दी है। बचा हुआ पानी डालने के लिए पास में एक छोटी बालटी रख दी है। अब लीला पानी माँगने नहीं आती। पानी के लिए अब उसको रोना नहीं पड़ता। पानी की बात को लेकर अब मुझको उससे कोई परेशानी नहीं रहती। अब मुझको पता भी नहीं चलता कि लीला पानी कब पी लेती है। अब लीला खुद ही पानी ले लेती है, और पी भी लेती है। उलटे, अब तो मैं भी उससे पानी मँगवाता हूँ, और वह खुशी-खुशी मेरे लिए पानी ला देती है। अब वह स्वाधीन बन गई है। मेरा सहारा छूट गया है। मुझको उसकी चाकरी नहीं करनी पड़ती। पहले लीला रोया करती थी, लेकिन अब वह

खु दा रहने लगी है। अब मुझको उस पर नाराज नहीं होना पड़ता, और मैं उसको अप्रिय भी नहीं लगता।

पहले भोजन के बाद बालकों के हाथ धुलवाने में बड़ी परेशानी हुआ करती थी। एक बालक भोजन करके उठता और कहता : 'मेरे हाथ धुला दीजिए न ?' एक के हाथ धुलाने होते, इतने में दूसरा आ जाता और कहता : 'मेरे हाथ धुला दीजिए न ?'

अम्मा कहती : 'सुनो, जब तक सब खा न लें, तुम अपनी जगह पर ही बैठे रहो। बाद में सब के हाथ एक साथ धुला दिए जाएँगे।'

सुनकर बालक बेचैन हो उठते, और शोर मचाने लगते। खा चुकने के बाद वे अपनी थाली में बचे हुए साग-दाल में हाथ डाला करते। मना करने पर किसी न किसी बहाने से रोना शुरू कर देते। अम्मा के नाराज होने पर सब मुँह फुलाकर बैठ जाते। ऐसी हालत में उनके हाथ धुलाने के लिए मुझको खाते-खाते उठना पड़ता था। बालकों को अपने हाथ फैलाने होते थे। मैं उनके हाथ रगड़कर धो न दूँ, तब तक उनको रुकना पड़ता था। मेरा धोना उनको कभी अच्छा लगता, और कभी अच्छा नहीं भी लगता था। अच्छा न लगने पर बालक रोने लगते थे। हाथ अच्छी तरह न धुलें, और उन पर जूठन लगी रह जाए, तो भला, इसको कैसे सहा जाए ? ऐसी हालत में बालकों को मारना-पीटना भी हमको सुहाता नहीं था। हम बहुत परेशान हो उठते थे।

भोजन कर चुकने के बाद धुले हुए गीले हाथों को पोंछने का काम भी एक बड़ा सिर दर्द बन जाता था। जब दिनू अपने गीले हाथ अपने ही कुरते से पोंछता, तो माँ उस पर नाराज होतीं। कुसुम अपने गीले हाथ अपनी घाघरी से पोंछ लेती, तो घाघरी पर हलदी के दाग लग जाते। लीला अपने हाथों से ही अपना मुँह पोंछ लिया करती। जो भी कपड़ा सामने दिखाई पड़ता, कमला उसी से अपने गीले हाथ पोंछ लेती। अम्मा को यह सब जरा भी पसन्द नहीं था। वे सबको धमकाया करतीं, गुस्सा होती रहतीं, और मौका पड़ने पर मार-पीट भी देतीं! वे कहा करतीं : 'अब इन दागों को मैं किस तरह धोऊँ ? क्या मैं तुम सबकी धोबिन हूँ ? मेरे पास धोने के लिए फुरसत ही कहाँ है?'

अपनी अम्मा की ऐसी नाराजी का ख़याल रखकर कभी-कभी बच्चे उससे पूछ लिया करते : 'अम्माजी ! हम अपने हाथ किससे पोंछें ?'

एक दिन अम्मा जी कहती : 'अपनी उस घाघरी से पोंछ लो,जो कल धुलने वाली है ।' दूसरे दिन कहती : 'देखो, उधर कपड़े का वह जो टुकड़ा पड़ा है, अपने हाथ उसी से पोंछ लो ।' तीसरे दिन वे कहती : 'भंगिन को देने के लिए वह जो साडी निकाली है, आज हाथ उसी से पोंछ लो ।'

बच्चों को रोज़ नए रास्ते जाना पड़ता । रोज़ नई-नई चीज़ें खोजनी पड़ती । बच्चे भी परेशान हो जाते, और हमारी परेशानी भी बढ़ जाती ।

अब हमने दो परिवर्तन कर दिए है । हाथ धोने के लिए आँगन मे पानी से भरी टोंटीवाली एक कोठी रख दी है । हाथ पोंछने के लिए दरवाज़े की साँकल से एक तौलिया बाँध दिया है । कुसुम भोजन करके उठती है,कोठी के पास पहुँचती है, और टोंटी खोल कर अपने जूठे हाथ मल-मलकर अच्छी तरह धो लेती है । अब किसी को 'हाथ धुला दीजिए !' की आवाज़ नही लगानी पड़ती । सब एक के बाद अपने हाथ धोने पहुँचते हैं । इसलिए कोई गड़बड़ भी नही होती ।

अब न अम्मा जी को नाराज़ होना पडता है, न बच्चो को रोना-रूठना पड़ता है, और न मुझको बार-बार उठकर कही बाहर जाना पड़ता है । हमने बच्चो को समझा दिया है कि वे किस तरह अपने हाथ मल-मलकर धो लिया करें । अब बच्चे खुद ही अपने हाथ मल-मलकर धो लेते हैं । वे अपने हाथो पर जूठन नही रहने देते । हाथ धो चुकने पर वे अपने गीले हाथ तौलिए से पोंछ लेते हैं । अब एक तौलिया ही लाल, पीला या काला होता है । अब किसी की घाघरी या पोलका गन्दा नही होता । किसी के हाथ चिकने नही रहते । अब अम्मा जी और बाबूजी को नाराज भी नही होना पडता । हाथ पोंछने के लिए कपड़े के टुकड़ों की खोज भी नही करनी पड़ती ।

भोजन के बाद मुँह फुलाकर बैठने के बदले अब सब बच्चे हँसते-खेलते और उछलते-कूदते हुए इधर-उधर घूमते रहते हैं । अपने बच्चो से अब हमको कोई परेशानी नही होती । बालक हम से और हम बालको से स्वतंत्र हो चुके हैं । पानी से भरी एक कोठी और एक तौलिया, ये दोनो, हमारे बालको के लिए आशीर्वाद-रूप बन गए है ।

इसके बदले यह करूँ

जात-बिरादरी में जाने के वास्ते पंकज के लिए बीस रुपयों का पीताम्बर खरीदने के बदले अपने आँगन में एक अखाड़ा बनवाऊँ और उसमें महीन रेत डलवाऊँ, तो क्या वह बेहतर न होगा ? पीताम्बर पहन कर पंकज जात-बिरादरी में अच्छा-भला तो दीखेगा, लेकिन अखाड़े में खेलने से तो उसका शरीर सुडौल बनेगा ।

पंकज की माँ कहती है : 'इसके लिए एक कंदोरा बनवा दीजिए, और इसको एक कड़ा पहना दीजिए । पास-पड़ोस के सब लड़कों के पास ये दो गहने तो हैं ही !' मैं कहता हूँ : 'गहने पहने बिना पंकज बदसूरत नहीं दीखेगा। इन गहनों पर पैसे खर्च करने के बदले अगर हम रोज सुबह पंकज को गाय का आधा सेर दूध पिलाएं, तो कैसा रहे ?'

पंकज की माँ सोचती है : 'हमको भी अपने देवर-जेठ के बच्चों की तरह रहना चाहिए । जब वे पाँच-दस रुपयों के पटाखे छोड़ते हैं, तो पंकज के लिए हम को भी दो रुपये तो खर्च करने ही चाहिए ।' मुझको लगता है : 'यह तो देखा देखी की ही बात हुई । पटाखे छोड़कर तो हम अपना पैसा बरबाद ही करते हैं । अगर पटाखों के बदले हम पंकज के लिए एक कैंची और कुछ रंग-बिरंगे कागज खरीद लें, तो कागज कोरने का जो काम पंकज को बहुत पसन्द है, उसको वह जी-भरकर कर सकेगा ।'

पंकज की दादी यानी मेरी माँ कहती है : 'बेटे ! सात रुपये खर्च करके तुम लोहे की ये चकरियाँ और पत्तियां क्यों खरीद लाए ? सात रुपयों में तो एक हेल या हण्डा आ सकता है, जो तीन पीढ़ियों तक हमारे घर की शोभा बढ़ा सकता है !' मैं सोचता हूँ : 'पंकज को मिकैनो पसन्द है । इसकी मदद से वह अपनी यान्त्रिक शक्ति का विकास कर सकता है । भले, घर [redacted] पीतल का

एक हण्डा न हो ! उसकी जगह मिट्टी के मटकों का होना कौन बुरा है ? जब पंकज मंत्र-विद्या में आगे बढ़ेगा, तो ऐसे साज-सामान की तो वह एक दुकान ही खोल सकेगा !'

पंकज की माँ कहती हैं : 'पंकज के लिए दो पुतले ले आइए। जमुना के जगदीश के पास ऐसे पुतले हैं। पंकज को ये पुतले बहुत पसन्द हैं, और वह इनके लिए ज़िद करता रहता है।' मैं कहता हूँ : 'हमारे आँगन में घास बहुत बढ़ गई है। उसके कारण मच्छर भी बढ़े हैं। इन मच्छरों के कारण सबको बार-बार बुखार आता रहता है। दो पुतले खरीदने के बदले दो मजदूर लगा कर हम यह घास खुदवा लें, तो बीमारी से बच जायें।' पंकज की माँ इसको ग़लत ख़र्च मानती हैं। वे कहती हैं : 'घास तो यों भी सूख जाएगी। हम इतने अमीर तो हैं नहीं कि घास खुदवाने के लिए मजदूर लगाएँ।'

: २ :

मैंने कहा : 'इस बार पंकज के जन्म दिन पर हम उसको कोई ऐसी चीज़ दें, जिसमें उसका मन रमे और उसको लाभ भी हो। ढेर सारे लोगों को इकट्ठा करके सारे दिन उनको खिलाते-पिलाते रहने की झंझट से हम अपने को बचा लें।' पंकज की माँ बोलीं : 'मुझको आपकी यह बात बहुत जँची है। खिलाने-पिलाने में तो हम थककर चूर हो जाते हैं। और, पंकज को तो इसमें कोई मज़ा आता नहीं।'

पंकज की माँ ने कहा : 'अब की हम अपने सारे ग़लत ख़र्च बन्द कर दें। मैं हर साल ताँबे-पीतल के नए-नए बरतन बेकार ही ख़रीदती रहती हूँ। अब की नए साल के दिन हम पंकज के लिए एक फुटबॉल ख़रीद लें, जिससे वह उसके साथ खेल सके।'

मैं बोला : 'आज जो तुमने लाख रुपए की बात कही।'

मैंने सोचा : 'पंकज की माँ सच कहती हैं कि मैं बाजार से रोज़-रोज़ पेपरमेण्ट की और दूसरी खट्टी-मीठी गोलियाँ खरीद कर लाता हूँ और पंकज को खिलाता रहता हूँ। ये गोलियाँ तो पंकज का पेट बिगाड़ती हैं, और मेरा पैसा बरबाद करती हैं। इससे अच्छा तो यह है कि मैं पंकज के लिए एक झूला बनवा लूँ।'

'इस बारे में पंकज की माँ की और मेरी एक ही राय है कि बच्चों के लिए नए-नए कपड़े बराबर बनवाते रहना और फिर उनसे मैले कपड़े पहनने के लिए कहना, और साथ ही यह सोचना कि धोबी को पैसे कहाँ से दें? यह तो पैसे वाले लोगों का काम है। हम रोज-रोज साबुन कहाँ से लाएँ? बिलकुल गलत बात है। इससे अच्छा तो यह है कि हम दो कपड़े कम सिलवाएँ, और फटे हुए कपड़ों की मरम्मत कर लिया करें, तो साबुन के लिए जरूरी पैसे हमको मिल सकते हैं!'

केवल मन की मौज के लिए हर महीने दो-चार मित्रों को भोजन के लिए बुलाना ही चाहिए। घर की शोभा बढ़ाने के लिए मोतों के तोरणों पर तो खर्च करना ही चाहिए। फैशनपरस्तों की गिनती में आने के लिए अमुक साबुन का उपयोग तो करना ही चाहिए। इसके विपरीत, बालकों के लिए मासिक पत्र मँगवाना है, तो उसके लिए हाथ में पैसा नहीं है। वाहन की व्यवस्था करके बालकों को दूर-दूर के सुन्दर स्थान दिखाने हैं, तो पास में पैसा नहीं है। क्या सोचने की यह रीति भूल-भरी नहीं है?

मेहमान को हलुवा तो खिलाना ही चाहिए। श्रावण महीने में दान-धरम पर पाँच रुपए तो खर्च करने ही चाहिए। श्राद्ध-पक्ष में पाँच-पचीस लोगों को भोजन तो कराना ही चाहिए। व्यवहार की यही माँग है। लेकिन लड़का बीमार हुआ है और डॉक्टर को बुलवाना है, तो डॉक्टर की फीस कहाँ से चुकाई जाए? गाड़ी का पैसा कहाँ से दिया जाए? बालक का शरीर दुबला-पतला है। उसको थोड़ी पौष्टिक दवा देनी है या उसके लिए पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी है, तो यह कहना कि भैया! गरीब आदमी को यह सब कैसे पुसा सकता है? इसका नाम है, झूठी गरीबी!

मेरे मित्र ठीक ही कहते हैं कि बारात पर और सीमंत पर वे इतने पैसे क्यों खर्च करें? और खर्च करने के बाद हाथ खाली हो जाएँ, तो कैसे कहें कि अब मैं अपने बेटे को आगे नहीं पढ़ा सकता? खोटे कामों पर खर्च करके दो दिन की वाहवाही लूट लेने से मेरे बेटे को क्या मिला? उलटे, उस बेचारे को तो आगे कर्ज का बोझ ही ढोना पड़ेगा।

●

चुम्वन

सब बाहर से घूम कर लौटे ही थे कि अम्मा ने कहा : 'बच्चो, सुनो ! सब अपने-अपने पैर धो लो । रास्ते की धूल चढ़ी होगी ।'

स्वास्थ्य के विचार से अम्मा छोटी-छोटी बातों का काफी ध्यान रखा करती थी । रोज-रोज के अभ्यास के कारण बालक भी गन्दगी और सफाई के बीच का फर्क समझने लगे थे, और उनको भी कई गन्दी बातें अच्छी नहीं लगती थीं ।

मुन्ने ने कहा : 'माँ, इस मुन्नी का मुँह भी धुलवाइए । जब हम चाची जी के घर गए थे, तो उन्होंने इसको चूम लिया था । चाचीजी को बुखार था ।'

मुन्नी बोली : 'हाँ, मुझको यहाँ चूमा था । इसे धो लेना होगा ।'

बच्चों ने अपने हाथ-मुँह धो लिए । यह देखकर मुझ को खुशी हुई । मुन्ने की बात ने मेरा ध्यान विशेष रूप से खींचा । मुन्ने ने ठीक बात कही थी । तभी मेरे मन में बच्चों को न चूमने के बारे में कुछ विचार उठे ।

मैंने सोचा कि प्रायः हर कोई आदमी बच्चों को चूम लेने के लिए ललचा उठता है, और जहाँ थोड़ा भी परिचय होता है, वहाँ वह उनको चूम भी लेता है । क्या उसको इसका कोई अधिकार होता है ? बिलकुल नहीं । किसी और के बच्चे को चूमने का अधिकार दूसरे किसी को होता ही नहीं है ।

किसी के खूबसूरत बच्चों को देखकर हमारा मन उनको चूम लेने के लिए क्यों ललचाए ? हमारी प्रीति बालकों से नहीं होती । प्रीति तो उनकी खूबसूरती से होती है । खूबसूरती के कारण ही किसी बच्चे को चूम लेने की अपनी वृत्ति का विश्लेषण हमको खुद ही कर लेना चाहिए । जब माँ कोयले-सी काली अपनी बिटिया को चूमती है, तो उसके मन में माँ का प्यार

भरा होता है। किन्तु जहाँ हमारे बीच कोई सहज स्नेह-सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ जब रूप से आकर्षित होकर हम चूमने के लिए लपकते हैं, तो ऐसी स्थिति में हमको ख़ुद ही सोच-समझ लेना चाहिए। जब हम छोटे बच्चों को चूमते हैं, तो वे स्वयं तो निर्दोष ही होते हैं, पर उस समय हम ख़ुद कितने निर्दोष होते हैं, इसका विचार हमीं को कर लेना चाहिए।

नाते-रिश्ते वालों को भी अपने रिश्तेदारों के बच्चों को चूम लेने का कोई अधिकार हो ही नहीं सकता। नाते-रिश्ते के लोग अपने प्रेम का प्रदर्शन करने के लिए प्राय: बच्चों को चूम लिया करते है। पर असल में प्रेम दिखाने की यह एक गलत रीति है। इस ने एक रूढ़ि का रूप ले लिया है। रिश्तेदारों के दिलों में इतना प्रेम उमड़ता न हो, तो भी अकसर उनको बच्चों को चूमना होता है, क्योंकि उन पर अपना प्रेम प्रकट करने की यह एक रीति-सी बन गई है। किन्तु नाते-रिश्ते वाले लोगों को भी धीरे-धीरे ख़ुद ही इस बात की छान-बीन करना सीख लेना होगा कि उनके इस चुम्बन के मूल में अनजाने ही उनकी मानसिक स्थिति कैसी रहती है?

चूमने का अधिकार हो या न हो, चुम्बन के मूल में मन की विकृति हो या न हो, फिर भी चूमने से पहले आरोग्य की दृष्टि को किसी भी दशा में भूलना नहीं चाहिए। सगी माँ ही क्यों न हो, लेकिन अगर उसको क्षय रोग हो गया है, तो भूले-चूके भी उसको अपने बच्चों को कभी चूमना ही नहीं चाहिए। चूमकर अपना रोग अपने बच्चों को देने से बदतर काम दूसरा और हो ही क्या सकता है? आज इस बारे में डॉक्टरों की राय बहुत स्पष्ट है कि चुम्बन के जरिए रोग फैलते हैं। कई बीमारियाँ तो बच्चों के पास चुम्बन के जरिए ही पहुंचती है।

माता-पिता के प्यार-दुलार की उमंग चुम्बन से शान्त होती है। चुम्बन एक प्राकृतिक उपहार है। वह उमड़ते दिल का एक आविर्भाव है। वह प्रेम के कारण आलोकित ज्ञान-तन्तुओं का विराम है उसमें प्रेम के गूढ़ तत्व की शान्ति निहित है। चुम्बन तो अपने प्रेम-पात्र पर अन्तर का अभिषेक है! संक्षेप में, चुम्बन दिल को दिल से मिलाने का एक साधन है, और दिल को दिल से पाने की एक रीति है। यही कारण है कि गाय उमड़ते दिल से अपने बछड़े

को चाटने लगती है। इसी कारण माँ अपने बच्चे को हँसता-खेलता देखकर मारे खुशी के पागल-सी हो उठती है, और अपने उमड़ते प्रेम की एक निशानी के रूप में वह अपने बच्चे को चूम लेती है। अपने अन्तर के प्रेम की जिस गहरी कथा को, और मन मे उमड़ती जिस भावना को, वह बोलकर प्रकट नहीं कर पाती, उसको वह चूम कर प्रकट करती है। बालक भी अपनी माँ की इस भावना को समझ लेता है, और मानो उसको सेर खून चढ़ा हो, इतनी खुशी के साथ, माँ के चुम्बन का आनन्द लेकर, वह फिर खेलने लगता है।

स्नेह की ऐसी स्वाभाविक स्थिति मे चुम्बन प्रासंगिक है। ऐसी स्थिति मे मन की सूक्ष्म विकृत अवस्था भी क्षम्य है। क्यो कि वैसे देखा जाए, तो मनुष्य आज भी मनुष्य ही है। लेकिन जब माता-पिता चुम्बन को एक फैशन का रूप दे देते हैं, और उसको लालच मे या घूस में बदल देते हैं, अथवा जब चुम्बन को मिथ्या लाड-प्यार का रूप दिया जाता है, तब तो वह सब प्रकार से त्याज्य ही हो जाता है। और, जब माता-पिता अपनी बीमार हालत मे भी अपने बच्चों को चूमते हैं, तब तो अपने अज्ञान के कारण वे भयकर अपराध ही करते हैं। 'अज्ञान के कारण' इसलिए कहना पड़ता है कि अगर माँ-बाप को पता चल जाए कि चूमने से बालक को बीमारी लग सकती है, तब तो अपने बालक को वे कभी चूमें ही नहीं, और चूमने की अपनी इच्छा को दबाने की कोशिश वे बराबर करते रहें।

चूमते समय बालक के शरीर की और उनके मन की स्थिति का भी विचार करना चाहिए। प्रायः बालक प्रेम-विभोर बनकर हमारे पास इसलिए आता है कि हम उसको चूम लें। ऐसे समय, दूसरी कोई बाधा न हो, तो हम बालक की इस इच्छा को अवश्य ही पूरा करें। हम उसके अन्तर की इस भावना का स्वागत करें। अगर चुम्बन का कड़ा विरोध करके, बालक हम पर सहज भाव से अपना जो प्रेम बरसाना चाहता है, उसका प्रतिकार हम करेंगे, तो उससे बालक के दिल को चोट पहुँचेगी, और वह मन-ही-मन दुःखी हो उठेगा। अनुभवी लोग जानते हैं कि जिस तरह अपने स्वस्थ और सुखी बालक को हँसता-खेलता देखकर माँ उसको चूम लेना चाहती है, उसी तरह माँ को देखकर, अलग-अलग कारणों से, बालक के मन मे भी अपनी माँ के

लिए प्रेम उमड़ता है, और वह उसको चूम लेता है। इस उमड़ते प्रेम को रोकने से इसका प्रवाह रुक जाता है। प्रेम के इस प्रवाह को रोक देने से बालक के मन में मन्दता, खिन्नता और निराशा उत्पन्न हो सकती है, और कभी-कभी इसके कारण उसके मन में खीझ, धिक्कार या तिरस्कार की भावना भी जाग सकती है। अपने माता-पिता को चाहना बालक का बड़ा सहज अधिकार है। जिस प्रकृति ने माता-पिता के और बालक के बीच में का नाता जोड़ा है, स्त्री-पुरुष के बीच के जिस प्रेमाकर्षण के कारण बालक का आगमन हुआ है, उस प्राकृतिक आकर्षण का विरोध नहीं करना चाहिए।

लेकिन ध्यान रहे कि बालक हमेशा चूमना या चुमवाना पसन्द नहीं करता। जब कभी, किसी बहाने, हम बालक को चूमते हैं, तो उसको उससे बहुत तकलीफ होती है। इसी तरह जब कभी हम उससे कहते हैं कि वह हमको चूमे, तो वह चूमने से इनकार कर देता है। अगर बालक को जबरदस्ती चूमा जाता है, तो उससे वह बहुत दुःखी हो जाता है। इसलिए जो एक-दूसरे के आकर्षण के कारण परस्पर चूमने की इच्छा जोर पकड़ती है वही समय चुम्बन का सही समय होता है। तभी माता-पिता और बालक, दोनों, आनन्द का अनुभव करते हैं। बालक तो ना समझ होता है, इसलिए जब हम देखें कि बालक को चूमने से उसका मन दुखता है, तो प्रेम के अपने तीव्र वेग को भी हम रोक लें, और संयम के सहारे अपनी उदात्तता को ऊँचा उठा लें।

चुम्बन के बारे में ये सारी बातें जानने-समझने लायक सभी हैं। इस लेख के आरम्भ में दिए गए एक छोटे-से प्रसंग के कारण इनका चिन्तन करने की प्रेरणा मुझको मिली।

इस बीच बापजी ने अपने हाथ-पैर धो लिए थे। नन्ही मुन्नी अपने गालों को रगड़कर पोंछ रही थी, क्योंकि चाचीजी का चुम्बन उसको अपनी अम्माजी के चुम्बन की तरह मीठा नहीं लगा था। उस चुम्बन से उसको सुख नहीं मिला था। उसने अनुभव किया था कि उसके गाल पर कोई चाचीजी का थूक लगा है।

बालक और मेहमान

घर की छोटी-सी दुनिया मे छोटे बच्चों की निगाह में नया आदमी 'मेहमान' होता है। यह मेहमान बालको का ध्यान तुरन्त ही खीचता है। यह बालको की कुतूहल-वृत्ति को जगाता है, और बालको के लिए अध्ययन-रूप बन जाता है। परिणाम यह होता है कि मेहमान बालको को जाग्रत बना देता है, उन पर अपनी भली-बुरी बातो का प्रभाव छोड जाता है, और बालको के कोमल जीवन में तात्कालिक और कई बार स्थायी हानि के बीज बो जाता है।

मेहमान को अपने माता-पिता का परिचित, मित्र, रिश्तेदार अथवा स्नेही समझकर बालक उसके पास जाते हैं। वे उसके साथ बातचीत करते है। उसको अपनी बातें कहते है। अपने घर की बातें भी कहते है। अपनी माँ की और अपने पिता की बातें भी कहते है। इनके अलावा, वे मेहमानो से उनकी बातें भी सुनते है।

बालक समझते नहीं कि मेहमान उनके साथ जो बरताव करते हैं, वह इष्ट है या अनिष्ट है। मेहमान उनसे जो बातें कहते है, वे अच्छी मानी जाएँ या बुरी मानी जाएँ। मेहमान उनके साथ जैसा व्यवहार करते हैं, वह व्यवहार अच्छा माना जाए या बुरा माना जाए? क्योंकि बालक तो मेहमानो पर पूरा विश्वास रखकर उनको अपना ही मानते हैं। इसके अलावा, चूंकि मेहमान एक नया ही व्यक्ति होता है, इसलिए बालकों को उसकी सारी बातें नई ही लगती हैं। इस नवीनता के कारण बालक उन बातों को देखने और समझने के लिए ललचाते हैं। अबोध बालको को पता नही रहता कि सब नई चीजें अच्छी नही होतीं। अकसर वे भयंकर होती हैं।

मेहमान बालकों को जबरदस्ती अपने पास बुलाते हैं। वे उनके हाथ पकडते हैं। उनको गुदगुदाते हैं। उनको गोद में बैठाते हैं। वे उनको कुदाते और नचाते है। यह बात अलग है कि ये सारी बातें मेहमानों के अधिकार-क्षेत्र के बाहर होती है। किन्तु भोले और भले बालक मान लेते हैं कि चूँकि ये उनके पिताजी के अथवा माताजी के मेहमान हैं, बड़े आदमी है, माताजी और पिताजी, दोनो उनका सम्मान करते हैं, इसलिए वे अच्छे तो होंगे ही। मेहमान जो कुछ भी करते होंगे, अच्छा ही करते होंगे। मेहमानों के काम बालकों को अच्छे न लगने पर भी वे उनके बारे में न तो किसी से कुछ कह सकते हैं, न बोल ही सकते हैं।

कई मेहमान बालकों को त्रास-दायक लगते है। वे उनको बेढगे और जंगली-से दिखाई पडते है। सस्कारशील बालक ऐसे मेहमानो से दूर ही रहते है। फिर भी मेहमान उनको अपने पास बुलाते हैं। वे उनके साथ खेलते भी है। ऐसी स्थिति मे या तो बालक गुमसुम बन जाते है या फिर कभी-कभी वे रोने भी लगते है। उस समय उलटे माँ-बाप ही अपने बालकों से कहते हैं: 'देखो, ऐसा मत करो। बेटे, तुम इनसे बातें करो। ये तो अपने अमुक हैं। तुम इनसे डरो मत। रोओ मत।'

यदि बालक अपने माता-पिता को इन मेहमानो की बुराइयो की, इनकी बदबू की, बातें समझा सके होते, तो माँ-बाप की आँखे तुरन्त ही खुली होती, और ये अपने बालकों को ऐसे मेहमानो से बचा सके होते।

बालक मेहमानो की बदबू को तुरन्त ही पहचान लेते है। वे भले और बुरे मेहमानो मे फरक कर सकते है, और उसी के हिसाब से वे उनसे अपनी पहचान बढाने के लिए राजी या नाराज रहते हैं। तिस पर जब एक बार वे इन मेहमानों की बुराई के शिकार बन जाते हैं, तो वे भी ऐसे मेहमानों को चाहने लगते हैं, और उनके बीच रहना पसन्द करते हैं। इसके बाद तो बालक अपने ऐसे कई मेहमानो से, अनजाने ही, चरित्रहीनता की भयंकरता का अस्पष्ट-सा परिचय प्राप्त करते हैं, और न समझते हुए भी वे उसमे एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करने लगते हैं।

बालकों को इस प्रकार का 'लाभ' अपने यहाँ आने वाले सब मेहमानों से तो नहीं मिलता। किन्तु कुछ हलके प्रकार के मेहमान ऐसा लाभ देने की शक्ति रखते हैं।

यदि हम मेहमानों को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटें, तो मित्र, सगे-सम्बन्धी, काम से या बिना काम भी आने-जाते रहने वाले आढ़तिये, परिचय-पत्र लेकर आए हुए यात्री, आदि के रूप में उनकी कुछ श्रेणियाँ बनेंगी। अंग्रेज़ी में एक कहावत है : 'भगवान हमको हमारे मित्रों से बचाएँ?' हम इस कहावत को अधिक अच्छी तरह इस रूप में समझ लें : 'भगवान हमारे बालकों को हमारे मित्रों से बचा लें!' हमारे मित्रों से मतलब है, अधिक निकट के, विशेष अधिकार रखने वाले, और विशेष रूप में सम्मान-योग्य व्यक्ति। यदि वे बीड़ी पीते-पीते हमारे बालकों को खेलाएँगे, तो बालकों को उनका धुआँ सहन करना ही होगा! यदि वे अपने बदबूदार मुँह से बालकों को चूमें, तो बालक उनको चूमने दें? वे बालकों की पीठ थपथपाएँ, तो बालक उनको थपथपाने दें? वे बालकों को अपने दो पैरों के बीच ज़ोर से दबाएँ, तो बालक उनको दबाने दें? माता-पिता अपने मित्रों को उनकी इन बुरी आदतों से ज़रूर ही मुक्त करा दें!

बालकों को अपने रिश्तेदारों और मेहमानों की भावना का अधिक लाभ देते रहना ज़रूरी नहीं है। माता-पिताओं को समझ लेना चाहिए कि ये लोग हमारे बालकों पर अपना जो पारिवारिक अधिकार रखते रहे हैं, उसका पट्टा अब ख़तम हो चुका है। वे इस बात का भी बराबर ध्यान रखें कि बालक कभी यह न समझ बैठें कि उनके रिश्तेदार लोग उनके लिए आदर्श-रूप हैं। अपने ऐसे मेहमानों की आदतों और विचारों आदि के विषय में हम घर में बालकों के सामने खुली चर्चा करते ही रहें। माता-पिता इस बात की विशेष चिन्ता रखें कि रिश्तेदार लोग बालकों से ऐसी बातें करना बन्द ही कर दें, जैसे, 'तुम्हारी माँ ऐसी है। तुम्हारी मौसी ऐसी है। अमुक बहन ने अमुक भाई से यह कहा था। जब तुम छोटे थे, या तुम्हारी इस मुन्नी की उमर दूध पीने की थी, उस समय यह घटना घटी थी, और वह घटना घटी थी। जब तुम्हारे पिताजी और माताजी का विवाह हुआ, उस समय हमने यह किया था, और

वह किया था।' हमारे नाते-रिश्ते वाले लोग हमारे सम्मान, हमारी आत्मीयता और हमारे आतिथ्य के अधिकारी तो हैं, किन्तु बालकों के साथ बातचीत करने का उनका जो परम्परागत अधिकार रहा है, अब अतिथि-सत्कार की सूची मे से उसको हटा देना चाहिए।

हमारे घर आने-जाने वाले आढतियों-जैसे लोगों और यात्रियों आदि के साथ हमारे बालकों की कोई जान-पहचान होनी ही नही चाहिए। हम अपने बालकों को स्पष्ट ही कह दें कि वे उनके साथ अपना सम्पर्क न बढाएँ। वे न तो उनके पास जाएँ, और न उनके पास बैठें। हम अपने बालकों को इस तरह सँभालें, और अपने मेहमानों की ऐसी व्यवस्था करें कि इन दोनों के बीच जान-पहचान बढाने की कोई गुंजाइश ही न रहे। हम धीरे-धीरे अपने बालकों की सुसंस्कारिता का विकास इस ढंग से करें कि जिससे वे मेहमान, और मेहमान के बीच के सूक्ष्म भेद को स्वयं समझने लगें। इस विषय में बालकों के साथ बार-बार बात करते रहने से, और उनके व्यवहार को दिशा देते रहने से बालकों मे इस प्रकार की समझदारी उत्पन्न हो सकेगी। बालक अभिमानी न बनें, नफरत-पसन्द न बनें, अतिथि के प्रति उनके मन में घृणा की भावना न जागे। बालकों के मन में क्रम-क्रम से यह बात बैठा देनी चाहिए कि अमुक लोगों के साथ वे एकदम घुल-मिल जाएँ, या अमुक लोगों के साथ उठना-बैठना शुरू न कर दें। उनको यह बात भी जँचा देनी चाहिए कि ऐसा करना उनकी अपनी मर्यादा से नीचे की ही बात होगी। प्रत्येक विचारशील और संस्कारी माता-पिता स्वयं ही सोच-समझ लें कि उनको यह काम किस रीति से करना है।

आढतियों और यात्रियों की श्रेणी वाले मेहमान हमारे प्रति अपना प्रेम या अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए हमारे बालकों को खेलाते हैं, भेंट या उपहार-स्वरूप उनको कुछ चीजें देते है, अथवा उनको अपने साथ कहीं घुमाने ले जाना चाहते हैं। इस विषय में हमारा रुख बहुत ही साफ और सख्त रहना चाहिए। हमें ही अपने मेहमानों को स्पष्ट रूप से मना कर देना चाहिए। ऐसी स्थिति मे बालकों के रुख का ध्यान रखना जरूरी नही होता, क्योंकि वह रुख तो मेहमानों द्वारा खडा किया हुआ होता है, और बनावटी

होता है। बालकों को जिस चीज की जरूरत हो, वह चीज हम उनको लाकर दे दें, और अगर वे चाहें, तो हम उनको घुमाने भी ले जाएं, लेकिन अपने मेहमानों को हम ये सारे काम न करने दें। अकसर देखा गया है कि इसके कारण बालक लोभी और लालची बन जाते है। जो चीजें उनको अपने माता-पिता से नहीं मिलती, उन चीजों को वे दूसरे जरियो से पाने की कोशिश करते हैं, और इस तरह वे अपने को गिरा लेते हैं।

चिन्ता नहीं, यदि हमारे बालक मिजाजी दिखाई पड़ें। चिन्ता नहीं, यदि हम स्वयं अभिमानी दिखाई पड़ें। किन्तु हम अपने बालकों को हर किसी मेहमान के साथ घुलने-मिलने और खेलने-भटकने की स्वतन्त्रता तो कदापि न दें। हां, हम बालकों को अपने मेहमानों की छोटी-छोटी सेवा के काम जरूरत के हिसाब से सौंप सकते है। जैसे, हम उनसे कहे कि वे मेहमानों को परोसें। मेहमानों के लिए हम उनसे पानी या पान-सुपारी मँगवाएँ। मेहमानों को बुलाने जाते समय हम उनको कभी-कभी अपने साथ ले जाएँ, और इस प्रकार हम उनमें अतिथि-सत्कार की और अतिथि के महत्त्व की भावना अवश्य ही जगाएँ। किन्तु किसी भी परिस्थिति मे बालकों को अपने मेहमानों का शिकार तो कभी बनने ही न दे।

हम सब एक-दूसरे के घर मेहमान बनकर जाते-आते रहते हैं। यदि हम अपने बालकों के प्रति अपने अधिकारों और मर्यादाओं को समझ लें, तो हम अपने बालकों को सुरक्षित रख सकते हैं। अपने मित्रों के बालकों के लिए और अपने रिश्तेदारों के बालकों के लिए हमारे मन में ममता रहती है, और रहनी भी चाहिए। हमको उसका पोषण भी करना चाहिए। हमारे मित्रों के बालक धीरे-धीरे हमारे बालकों के भी मित्र बनें, यह मित्र-परम्परा या नाते-रिश्ते की परम्परा आगे बढ़े, तो वह स्वागत-योग्य ही है। इस दृष्टि से हम अपने बालकों की मित्रता को बड़ी सावधानी के साथ, आदर-पूर्वक और कुशलता-पूर्वक बढ़ाते और पुष्ट करते रहें। यदि मित्रों के बालक हमसे दूर-दूर रहते हैं, तो हम उसका बुरा न मानें। यदि मित्रों के बालक, अथवा कुलीन परिवार वाले हमारे सेठ के बालक हमारे साथ खेलते हैं, हमसे घुलते-मिलते

हैं, तो हमको यह सब अच्छा ही लगता है। इसमें हम अपने बड़प्पन का भी अनुभव करते हैं। किन्तु बालकों के हित की दृष्टि से हम इन सब बातों को छोड़ दें। जिस तरह आज अपने बालकों के हित के लिए हम सबको बहुत-कुछ छोड़ना होता है, बालकों के हित के लिए ही हमको अपनी योग्यता बढ़ानी होती है, उसी तरह इस काम की दृष्टि से भी जो आवश्यक है, उसको हम जरूर ही करते रहें।

माता-पिता के नाते हम भी अपने मित्रों का सच्चा और सद् उपयोग करते रहें। हम अपने बालकों को अपने मित्रों की कुशलता का, बुद्धि का, कलाप्रियता और सस्कारिता का लाभ अवश्य ही दें। इसके लिए अपने सुयोग्य मित्रों को अपने घर में अधिक निकटता का स्थान देकर हम उनकी कहानियों, नाटकों, बातचीत, खेल, और मनोरंजन आदि को सुनने और देखने की व्यवस्था अपने बालकों के लिए अवश्य ही करें। कुछ हद तक हमारे बालक भी मनुष्यों के भूखे होते हैं। वे अपने मेहमानों के द्वारा बाहर की दुनिया का अध्ययन कर सकते हैं। किन्तु उनकी यह भूख अच्छे और उत्तम आहार द्वारा बुझ सके, इसकी व्यवस्था हमको सावधानी के साथ करनी चाहिए। फिर भी अपने बालकों को अच्छे-से-अच्छे मेहमानों के बीच रख-भर देना और केवल विश्वास के भरोसे रहना बहुत उचित नहीं है। अच्छी वस्तु की खोज के लिए आवश्यक होशियारी में और अविश्वास में अन्तर होता ही है। हमारे मेहमान हमारे सिर-माथे हैं, किन्तु इसके कारण हमारी होशियारी में कोई कमी नहीं आनी चाहिए।

चन्द्रकान्त पिता थे

चन्द्रकान्त एक विचारशील पिता थे। डॉक्टर होने के कारण वे बहुत ही व्यस्त रहा करते थे। उनको पानी पीने की भी फुरसत नहीं मिलती थी। सुबह से शाम तक वे अपने बीमारों के बीच ही बने रहते, लेकिन सांझ पड़ते ही चन्द्रकान्त सीधे अपने घर पहुँच जाते थे। सांझ के एक घण्टे में वे डॉक्टर न रहकर पिता बन जाते थे। डॉक्टरी के अपने धन्धे की तरह ही उन्होंने बहुत सोच-समझकर अपने पितापन को भी अपना एक धन्धा बना लिया था। जिस तरह डॉक्टर के नाते वे अपने रोगियों को दिया समय कभी चूकते नहीं थे, वे उसी तरह शाम को अपने बच्चों के साथ बैठने या घूमने के समय को भी कभी भूलते नहीं थे। अपने बीमारों की सार-सँभाल वे बहुत सावधानी के साथ किया करते थे, और अपने काम में सफल होने के लिए वे अपना अध्ययन और अनुभव बढ़ाते रहते थे। इसी तरह अपने बालकों के सफल पिता बनने के विचार से वे इस विषय का भी अपना अध्ययन और अनुभव बराबर बढ़ाते रहते थे। वे मानते थे कि जिस तरह अपनी लापरवाही के कारण वे अपने बीमारों को खो सकते हैं, उसी तरह अपने बालकों के प्रति में लापरवाह रहकर वे उनका प्रेम खो सकते हैं, और अपने पितृत्व को कलंकित भी कर सकते हैं। अपने इस विचार के कारण वे हर रोज शाम को बच्चों के साथ घूमने निकल जाते। बगीचे में जाते, तो वे बालकों को पेड़ों के और फूलों के नाम बताते, और उनकी जाति की जानकारी देते। कभी किसी यात्री-बस के पड़ाव के पास बैठते, तो वहाँ अपने बच्चों को [illegible] खड़ा करके नहीं रखते। अपनी मोटर में बच्चों को बैठा रखने में [illegible] अपनी शोभा या शान नहीं समझते थे। [illegible] करने के लिए अपने साथ आए बालकों को किसी दूसरे साथी के [illegible]

वे उनको बगीचा दिखाने के लिए कभी भेजते नही थे। ऐसी स्थिति में वे उत्तम पिता बनने की भरपूर सावधानी रखा करते थे। कभी, किसी दिन, शाम को वे बालकों के साथ किसी तालाब पर पहुँच जाते थे। वहाँ वे बालकों को तालाब के पानी मे दौड़ाते। कभी वे बालकों पर पानी उछालते। कभी बालक उन पर पानी उछालकर उसका मजा लूटते। वे बालकों को पानी का बहाव दिखाते। हवा के कारण पानी में उठने वाली लहरों की तरफ उनका ध्यान खींचते। जब पानी स्थिर होता, तो उस पर पड़ने वाली पेड़ों और टेकरियों की परछाई उनको दिखाते। और, साँझ के समय डूबते सूरज का बिम्ब टेकरी की आड़ में छिपते-छिपते या दूर क्षितिज पर अदृश्य होते समय तालाब के पानी पर कैसी रंग-बिरंगी छाया फैला देता है, इसकी ओर बालकों का ध्यान खीचकर वे खुश हुआ करते। साँझ के समय, सूरज के अस्त होते-होते, सध्या के बदलते रंगो की तालाब के पानी पर पड़ने वाली परछाइयों के बीच, प्रकृति की उस शोभा और समृद्धि के बीच, अपने बालकों को खड़ा करके वे उनके मन पर प्रकृति की भव्यता की गम्भीर छाप पड़ने देते। फिर, कभी किसी शाम वे अपने बच्चो को आम लोगो के बीच ले जाकर उनके दर्शन कराते। कभी बच्चो को रेलगाडी के इंजन के पास खड़ा करके वे उनको इंजन दिखाते, और इंजन के कल-पुर्जों की बात कहते। वे बालको को समझाते कि इंजन किस तरह चलता है। ऐसे समय मे वे भूल ही जाते कि वे खुद एक डॉक्टर हैं। फिर भी जिस तरह डॉक्टर हमको शरीर के सब अंगों की जानकारी देते हैं, उसी तरह बालकों को इजन के कल-पुर्जों की जानकारी देते। वे स्वय इजीनियर तो नही थे, पर पिता अवश्य थे। पिता के नाते अपने जीवन को सफल बनाने के विचार से उन्होने पिता के धन्धे से जुड़े विविध कामों की जानकारी हासिल कर ली थी। बालको के मन मे अपने पिता के प्रति बड़ा आदर बना रहता था। जो पिता बालको के जीवन को नित नई चीजों से सँवारा करते है, वे ही बालकों को अपने सच्चे पिता लगते हैं। कई बालक अपने पिता को फौजदार मानते है। कई उनको वकील मानते हैं, और कई उनको डॉक्टर मानते हैं। कई बालको को उनके अपने पिता दुकानदार या सेठ-से लगते हैं। कई उनको मास्टर या शिक्षक मानते हैं। बहुत कम बालक

ऐसे होते हैं, जिनको अपने पिता, पिता लगते हैं। चन्द्रकान्त के बालक अलग-अलग समय में उनको अलग-अलग रूप में देखा करते थे। कभी वे उनको बगीचे के माली लगते थे। कभी लुहार या बढ़ई लगते थे। कभी कवि या चित्रकार लगते थे। यह सब कुछ लगने के बाद भी वे बालकों को अपने पिता तो लगते ही थे। बालकों के मन पर यह छाप बराबर पड़ती रहती थी कि उनके पिता, सचमुच उनके पिता ही हैं।

डॉक्टर चन्द्रकान्त के बालक भाग्यवान थे, क्योंकि उनको एक अच्छे पिता मिले थे। चन्द्रकान्त ख़ुद भी भाग्यवान माने जाएँगे, क्योंकि वे एक अच्छे पिता बन सके थे।

•

अमृत-दृष्टि

गुजरात के कवि कलापी ने अपनी एक कविता में एक पुराने प्रसंग का मार्मिक वर्णन किया है।

एक राजा था। सैर-सपाटे के लिए निकला था। रास्ते में गन्नों का एक खेत मिला। प्यास लगी। राजा खेत पर पहुँचा। किसान ने गन्ने के अमृत-से मीठे रस का एक गिलास भरकर राजा को भेंट किया। राजा गिलास-भर रस गट-गट पी गया। राजा ने शीतलता का अनुभव किया। उसका कलेजा बरफ की तरह शीतल हो उठा। राजा ने कहा : 'एक गिलास और भर दो !' किसान गन्ने के खेत मे पहुँचा, और गन्ने काट-काटकर गिलास भरने लगा, लेकिन गन्नों में से रस निकलता ही नहीं था! बड़ी मेहनत के बाद मुश्किल से चार-पाँच बूँद रस टपकता था। राजा अधीर हो उठा, और किसान के पास पहुँचा। राजा को देखकर किसान मन-ही-मन लज्जित हो रहा। वह गन्ने काटता रहा, पर गिलास नहीं भरा।

किसान ने कहा : 'महाराज ! बात समझ में आ नहीं रही है। पता नहीं, ऐसा क्यों हो रहा है ?'

राजा बोला : 'भैया, इसका कारण तो मैं ही हूँ। जब तुमने मुझको गन्ने का रस पिलाया, तो मैंने सोचा, ओह हो ! इस किसान के पास ऐसा अमृत है, तो *यह कितना धनवान होगा ? और, कितना सुखी होगा ?* इससे तो दुगुना-चौगुना कर वसूल करना ही चाहिए। मन में इस विचार के आते ही मेरी नीति दूषित हो गई। राजा के नाते मुझ में जो अमृत-दृष्टि होनी थी, उसमे विष घुल गया। गन्नों में से रस न निकलने का यही कारण है।'

यह अमृत-दृष्टि एक अत्यन्त महत्व की वस्तु है।

वैसे खेत की फसल तो खाद-पानी से ही बढ़ती है, लेकिन जब खेत के किनारे खड़ा या मचान पर बैठा किसान अपने हरे-भरे खेत की हरियाली देखकर मुस्कराता रहता है, मन-ही-मन खुश होता रहता है, उमंग भरे दिल से पक्षियों को उड़ाता है, और खेत को पानी से सींचता है, तो वह खाद-पानी से भी बढ़कर अपने खेत पर अमृत से भरा दिल उंडेलता रहता है, और इससे उसकी सारी फसल पोषण पाती रहती है।

अपने हाथों पाले-पोसे फूल-पौधों पर और फूलों वाली लताओं पर अपनी निगाह गड़ाकर खड़े माली को जिन्होंने देखा होगा, वे जरूर ही यह कहेंगे कि माली केवल खाद और पानी की मदद से अपने बाग को खड़ा नहीं करता। उसकी मीठी नजर उसके फूलों को हँसाती रहती है, और उसका कोमल स्पर्श लताओं की पत्ती-पत्ती में रस का संचार करता रहता है। माली अपने फूलों को देखकर खुशी से पागल हो उठता है। अपने बाग के हर फूल को और हर कली को टूटते देखकर माली महसूस करता है, मानो उसीकी जान निकल रही है, वही अन्दर से टूट रहा है। जब माली खुद फूल तोड़ता है, तो वह उसको कितनी खबरदारी के साथ तोड़ता है, और जब वह किसी लता को पेड़ पर चढ़ाता है, तो कितनी फिकर के साथ चढ़ाता है! यही है माली की अमृत-दृष्टि। इस अमृत-दृष्टि के सहारे ही फूल खिलते हैं, और लताएँ पनपती हैं।

हमने देखा है कि दूध दुहते समय ग्वाला गाय का गला अपने हाथों से सहलाता रहता है। गाय चर कर आती है, चारा-चन्दी खाती है, और दूध देती है, लेकिन जब ग्वाला 'मैया, मैया!' कहकर गाय की पीठ पर हाथ फेरता है, और गाय के सींगों को खुजलाता है, तो गाय कितनी अधिक पेन्हाती है! कई लोगों को अपनी गाय कुछ खास ग्वालों से ही दुहानी पड़ती है।' कहा जाता है कि गाय उनसे हिली रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्वाले के पास एक ऐसी अमृत-दृष्टि होती है, जिसके कारण गाय अपने अमृत-जैसे दूध से अपने आँचलों को उमड़ने देती है।

जब माँ अपने बच्चे को दूध पिलाने बैठती है, उस समय उसको देखने वाले ही कह सकते हैं कि बालक माँ के दूध से पोसाता है, या माँ की अमृत-

दृष्टि से पोसाता है। माँ के अनजाने ही माँ का चिन्तन शुरू हो जाता है—'यह मेरा प्राण है। यह मेरा चेतन है। यह मेरा सर्वस्व है। अपने दूध द्वारा मैं इसमें अपने प्राण सींचती रहती हूँ। यह दूध, दूध नहीं है, यह तो अमृत है!' यह कोई कविता नहीं है। ये तो वे अकथनीय भाव है, जो माँ के हृदय में भरे रहते हैं। माँ दूध नहीं पिलाती। वह तो प्रेमामृत पिलाती है, जिसको पीकर मानव-शिशु जीवित रहता है, और पल-पुसकर बड़ा होता है।

ये सब अमृत-दृष्टियाँ हैं। प्रजा राजा की अमृत-दृष्टि पाकर, बाग माली की अमृत दृष्टि पाकर, खेत किसान की अमृत-दृष्टि पाकर, और बालक मां की अमृत-दृष्टि पाकर पनपता और परिपुष्ट होता है।

बढ़ने, खिलने और विकसित होने के एक अनिवार्य नियम का ही नाम है, अमृत-दृष्टि। जहाँ-जहाँ यह नियम काम नहीं करता, वहाँ-वहाँ विकास की गति रुँध जाती है, सिकुड़ जाती है, और उसमें शुष्कता और मन्दता आ जाती है। उसमें सड़ांध शुरू हो जाती है।

अपने को और अपने बालकों को ध्यान में रखकर यहाँ हम इस नियम पर थोड़ा विचार करें।

बालक हमारे घरों के पौधे या फूल पौधे हैं। हमारे द्वारा तैयार किए गए वातावरण में वे खा-पीकर बड़े हो रहे हैं। वे हमारी आँखों तले जी रहे हैं। कड़वी या मीठी, जैसी भी हमारी नजर होगी, बालक वैसे ही बनेंगे। माली अपने ही बगीचे के फूल-पौधों की क्यारियों में दनदनाता हुआ चले, अपनी ही मरजी के काम करे, फूलों को देखकर खुश न हो, सोचे कि हाँ, ठीक है, फूल खिले है, तो खिले रहे, तो उसका बगीचा कभी पनपेगा ही नहीं।

इसी तरह अपने बालकों के बीच रहकर हम उनकी आवश्यकताओं की उपेक्षा करें, उनको भोंदू या बुद्धू मानकर जब-तब उनको दुतकारते और फटकारते रहें, उनकी कोमल भावनाओं का कभी विचार ही न करें, उनके प्रति अभिमुख न बनें, अपनी ही मस्ती में मस्त रहा करें, तो निश्चय ही इसके कारण हमारे बालक मुरझाने लगेंगे। उनको हमारी अमृत-दृष्टि का पोषण नहीं मिल पाएगा।

बालक बहुत ही नाजुक और नन्हे होते है, किन्तु इसी के साथ वे बहुत ही संवेदनशील और संस्कार-क्षम भी होते हैं। वे हमारी राज़ी-नाराज़ी को, हमारे गुस्से को और हमारी खुशी को फौरन ही पहचान लेते है। हमको कठोर पाकर वे अपना मन मूँद लेते हैं, और हमको प्रसन्न देखकर वे भी प्रसन्न हो उठते हैं।

जिस घर मे माता-पिता दोनो अपने अधिकार के जोर से सबके साथ व्यवहार करते है, और जहाँ बालकों को भी ऐसे ही व्यवहार का शिकार बनना पड़ता है, वहाँ बालक अपने माता-पिता की अमृत-दृष्टि से वंचित रहते हैं।

जिस घर में बालक निरे नन्हे-मुन्ने माने जाते हैं, जहाँ उनको किसी प्रकार का कोई मान-सम्मान दिया ही नही जाता, जहाँ वे ऐसे सम्मान के लायक माने ही नही जाते, जहाँ वे गिरते-पड़ते और भटकते-टकराते हुए ही बड़े होने वाले समझे जाते है, उस घर के बालक भी अपने माता-पिता की अमृत-दृष्टि से वंचित ही रहते हैं।

जिस घर मे बालकों की तरफ प्यार से देखा ही नही जाता, जहाँ उनके छोटे-छोटे कामो की, उनकी छोटी-छोटी बातो की, और उनकी सहज और सरल सद्‌भावनाओ की कोई कीमत और कदर नही होती, बल्कि जहाँ उनके इन कामों की उपेक्षा ही की जाती है, और इनके प्रति घर के बड़ो की अरुचि ही प्रकट होती रहती है, उस घर मे बालकों के प्रति अमृत-दृष्टि नही, बल्कि विष-दृष्टि ही अपना काम करती रहती है।

जिस घर में बालको को आयाओ के स्वार्थ-सने वातावरण में, और दूसरी तरह के गन्दे वातावरण मे रहना पड़ता है, वहाँ बालकों की अमृत-दृष्टि के खाद-पानी के बदले दूसरे ही प्रकार का खाद-पानी मिलता है।

जिस घर में बालको को माता-पिताओ की स्वार्थ-वृत्ति, द्वेष-वृत्ति, वैर-वृत्ति और लोभ-वृत्ति आदि क्षुद्र प्रकार की वृत्तियो के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वातावरण मे रहना पड़ता है, वहाँ बालक अमृत के बीच नही, बल्कि हलाहल विष के बीच ही पलते-पुसाते हैं।

जहाँ बालक माता-पिता के आपसी कलहों में, सगे-सम्बन्धियों की निन्दा और कुत्सा में, और जात-पाँत के दाव-भरे पेच-प्रसंगों में रुचि लेने लगते हैं, वहाँ वे अमृत का नहीं, निरे विष का ही पान करते रहते हैं।

बालक हमारे घरों में बढ़ने वाले पौधे हैं। जिस तरह पौधों पर हवा का और सूरज के प्रकाश का भला-बुरा प्रभाव पड़ता रहता है, उसी तरह बालकों पर उनके माता-पिताओं का और दूसरे लोगों का भी भला-बुरा प्रभाव पड़ता ही है। यह प्रभाव अमृत के समान भी होता है, और विष के समान भी होता है।

जब हम इस बात को लेकर चिन्तित होते हैं कि शरीर की, मन की और रीति-नीति की दृष्टि से हमारे बालक का विकास ठीक तरह से क्यों नहीं हो रहा है, उलटे, वह मन्द और निस्तेज क्यों बनता जा रहा है, उसमें विस्मरण की और प्रमाद की मात्रा क्यों बढ़ रही है, तो हम को अपने से ही पूछना चाहिए कि इसका कारण रोज रोज की हमारी अपनी रोक-टोक तो नहीं न है? बालक को काम में लगा देखकर हमने अपनी प्रसन्नता व्यक्त नहीं की। हमारी यह उपेक्षा ही तो इसके मूल में नहीं न है? हमारी अपनी सुहानुभूति का अभाव ही तो इसका कारण नहीं न है? ये सब अमृत-दृष्टि के अभाव के लक्षण हैं।

अमृत की दृष्टि और विष की दृष्टि स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार की होती है। बालक को हम प्रसन्नता-पूर्वक अपने पास बुलाएँ, और उसकी बात का जवाब दें, तो यह हमारी स्थूल दृष्टि हुई। बालक को काम करते देखकर हम नेह-पूर्वक उसकी ओर निहारें, और मन-ही-मन प्रसन्नता का अनुभव करें, चाहे बालक को इसका पता भी न चले, तो वह उसके प्रति हमारी सूक्ष्म दृष्टि होगी। बालक हमसे इनाम की नहीं, कद्र की उम्मीद रखता है। बालक हमसे इनाम नहीं चाहता, वह तो चाहता है कि उसके काम को देखकर हम खुश हों। बालक हमसे यह नहीं कहता कि हम उसके कामों को देखें, और उसीके पास बैठे रहें। बालक हमारी उपेक्षा नहीं, अभिमुखता चाहता है। वह जब भी हमारे पास आए, हम उसका स्वागत करें। हम शान्त और सरलभाव से, स्नेहपूर्वक, उसके प्रश्नों के उत्तर दें। हम उसकी कठिनाइयों को दूर करें, या उनको दूर करने में उसकी मदद करें।

विष की स्थूल दृष्टि का मतलब यह है कि हम बालक को उसके प्रयत्नों के लिए झिड़कते रहें। उसको मूर्ख समझकर उसकी हँसी उड़ाते रहें, आदि, आदि। दूसरी तरफ, भले ही हम बालक से कोई तीखी बात न कहें, लेकिन अगर बालक को हमारी आँखें निस्तेज लगती है, हमारा चेहरा उसको भाव शून्य लगता है, हमारी बातें उसको रूखी-सूखी लगती है, हमारा व्यवहार उसको अटपटा-सा मालूम होता है, हमारी रीति-नीति उसको उलझन-भरी और अनादर-सूचक लगती है, तो बालक के लिए ये सारी बातें दुखदायक बन जाती हैं। बालक के साथ इस तरह का व्यवहार हम उसी हालत में करते हैं, जब हमारी दृष्टि बदल जाती है, यानी जब दृष्टि अमृत की न रहकर विष की बन जाती है।

दृष्टि के इस भेद को बालक तुरन्त ही पहचान लेते है। पड़ोसिन बहन ने बालक को किस निगाह से देखा, अथवा छोटे चाचाजी ने बड़ी बुआजी के बेटे पर कैसी दृष्टि डाली, इस चीज को बालक सहज ही पकड़ सकते हैं, और अपने माँ-बाप को वे इसकी जानकारी भी दे सकते है। हम सबको इसका अनुभव है ही।

आइए, हम अपने बालकों का लालन-पालन अमृत-दृष्टि से करें और अपने बालकों के जीवन को सरस और सुमधुर बनाने के लिए अपने आस-पास से, अपने घरों से, और अपने पास-पड़ोस से कड़वी दृष्टि को खदेड़कर अपने चारों तरफ अमृत-दृष्टि का ही विकास और विस्तार करने में लगे रहें। हम दोनों का, यानी हमारा और हमारे बालकों का कल्याण इसी में समाया हुआ है।

•